प्राचीन भारतीय सांग्रामिकता का इतिहास : एक अध्ययन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी से इतिहास विषय में
परास्नातक (एम० ए०) उपाधि हेतु प्रस्तुत

लघु शोध-प्रबन्ध

निदेशक
श्रीमती आरती बाजपेई
प्रवक्ता, इतिहास विभाग
पं० जे० एन० कालेज, बाँदा
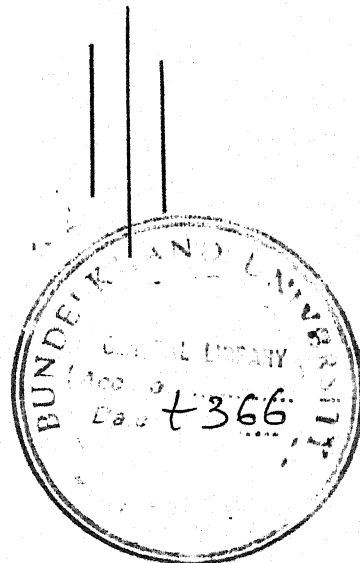
कु० ऋचा सिंह
शोधकर्ता
कु० ऋचा सिंह
एम.ए. उत्तरार्द्ध इतिहास
रोल नं० 81683
पं० जे० एन० कालेज, बाँदा

द्वारा
इतिहास विभाग
पं० जवाहरलाल नेहरू (पी० जी०) कालेज
बाँदा
वर्ष - 1996

Pt. Jawaharlal Nehru College, BANDA **Regd.**

Dr. H. S. Shukla
M. Sc., Ph.D.
Principal

☎ { College - 22691
Resi - 22699

Banda (U. P.) 210001

Date 16.04.1996.

पत्रांक- लघु शोध/

सेवा में,

कुल सचिव,
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय,
झाँसी ।

महोदय,

आपके पत्र Confidential/Thesis/96/12 दिनांक 29-2-96 के अनुसार वनस्पति विज्ञान विभाग में शिक्षकों की कमी के कारण वाचन भत्ते पर कार्य कर रहे शिक्षक डॉ० अजय कुमार मिश्र के निर्देशन में अपना लघु शोध प्रबन्ध पूरा कर रहे निम्नलिखित संस्थागत परीक्षार्थियों -

1- श्री राकेश कुमार पुत्र श्री रंगम, अनुक्रमांक-81689
2- कु० कृपा सिंह पुत्री श्री के०प्रसाद सिंह, अनुक्रमांक-81683
3- श्री भीमसेन पुत्र श्री शम्भू लाल, अनुक्रमांक-81652

को दीर्घ अवकाश से लौटी विभाग की नियमित शिक्षिका कु० आरती पाण्डेय के निर्देशन में स्थानान्तरित किया जाता है ।

भवदीय,

(डॉ० हरिशंकर शुक्ल)
प्राचार्य,
पं०जे०एन०कालेज, बाँदा ।

पृष्ठांकन संख्या :- लघु शोध/95-96/17579 / तद्दिनांक : 17-4-96
प्रतिलिपि :-

1- कु० आरती पाण्डेय को इस निर्देश के साथ कि वे कृपया उपर्युक्त परीक्षार्थियों का शोध प्रबन्ध पूरा करायें ।
✓2- सम्बन्धित तीनों परीक्षार्थियों को इस निर्देश के साथ कि वे अपना शोध कार्य ~~आपके~~ कु० आरती पाण्डेय के निर्देशन में पूरा करें ।

(डॉ० हरिशंकर शुक्ल)
प्राचार्य,
पं०जे०एन० कालेज, बाँदा।

पता → कोतवाली, नगर, बाँदा

पं. जवाहर लाल नेहरू कालेज, बांदा

श्रीमती आरती बाजपेई
प्रवक्ता

इतिहास विभाग
पं० जे० एन० कालेज, बांदा

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि कु० ऋचा सिंह एम० ए० उत्तरार्द्ध इतिहास, पं० जे० एन० कालेज बांदा ने हमारे निर्देशन में प्राचीन भारतीय सांग्रामिकता का इतिहास " : एक अध्ययन " समस्या पर लघु शोध कार्य किया है । इनका कार्य एक अत्यन्त ही नया और प्रभावित करने वाला साथ ही उनकी स्वयं की मेहनत का परिणाम है । मैं इस लघु शोध प्रबन्ध को एम० ए० उत्तरार्द्ध उपाधि हेतु परीक्षण के लिये संस्तुत करती हूँ ।

5.5.96
(श्रीमती आरती बाजपेई)
लघु शोध निदेशक
इतिहास विभाग
पं० जे० एन० कालेज, बांदा

Countersigned
08.5.96

Senior Superintendent
University Examination
Pt. Jawaharlal Nehru College, Banda

"आमुख"

प्राचीन काल का सैन्य साहित्य भारतीय युत्सुओं की युद्धवीरता के ओजास्वी वर्णनों से भरा पड़ा है ऐतिहासिक अध्ययन इस बात को प्रमाणित करते हैं कि प्राचीन भारतीय योद्धा सचमुच युद्ध–विद्या मे पारंगत थे । आदिकाव्य रामायण के बाद पौराणिक युग में तो भारतीयों की रणकुशलता के अनेक प्रमाण मिलते हैं । रणवाद्यों और शस्त्रास्त्रों के नाम रथों के आकार–प्रकार, महारथियों की ध्वजा के चिन्ह, व्यूहों के नाम और उनके निर्माण की विधि, युद्ध की वेश भूषा युद्ध–क्षेत्र के नीति–नियम, चतुरंगिणी सेना की संख्या और बनावट, सेन्य संगठन, प्रशासन संगठन, शिविर संघटन प्रमाणी, दूतों और जासूसों की निपुणता, दुर्ग निर्माण कला, खड्गयुद्ध गदायुद्ध, भल्लयुद्ध आदि के अतिरिक्त जलयुद्ध और आकाश युद्ध के वर्णन एवं दृश्य भी हमारे पौराणिक युग के साहित्य में दर्शनीय है । महाकाव्य काल में भारतीयों की युद्ध कला कुशलता पराकाष्ठा को पहुंच चुकी थी । आजकल के वैज्ञानिक आविष्कारों ने युद्ध के प्रलयकारी साधन उपस्थित करके जिस तरह विश्व को आश्चर्यचकित कर दिये हैं उसी प्रकार के साधनों का वर्णन हमारे प्राचीन साहित्य में भी पाये जाते हैं । उपरोक्त तथ्यों को संग्रह करने की जिज्ञासा मेरे मन में काफी अर्से से उफन रही थी । पं0 जवाहर लाल नेहरू महाविद्यालय के इतिहास विभाग के विद्वान गुरूजनों का प्रोत्साहन पाकर मैंने इस ओर अपना अध्ययन जारी रखीं । मेरा यह सकेतुक प्रयास है जिसमें हमने यह प्रयास किया है कि प्राचीन भारतीय सांग्रामिकता रूपी समुद्र से कुछ मोती निकाल सकूं ।

अपने इस लघु शोध प्रबन्ध में यथावत वाद–टिप्पणियों के माध्यम से अपने विचारों को प्रमाणिक लेखकों के ग्रन्थों द्वारा एवं प्राथमिक स्त्रोतों द्वारा एकत्र की गयी सामाग्री का संकलन है । इसके अतिरिक्त लघु शोध प्रबन्ध को प्रमाणिक बनाने हेतु अनेकों समाचार पत्रों एवं पत्रिकाओं तथा सेमीनार (संगोष्ठियों) के अंश भी प्रस्तुत किये गये हैं ।

इस लघु शोध समस्या पर कार्य करने की प्रेरणा हमारे महाविद्यालय के प्राचार्य डा0 हरिशंकर शुक्ल एवं इतिहास विभाग के विभागाध्यक्ष प्रो0 बी0एन0राय की देन है । उन्होने इस विषय की गम्भीरता को देखा–परखा ओर हमें उत्साहित किया कि मैं इस विषय पर लघु शोध कार्य करूं । मैं ऐसे महापुरूषों की बहुत ही आभारी हूं जिनका स्नेह एवं प्यार भरा शब्द बराबर छत्रछाया रहा जब भी कोई कठिनाई महसूस हुई उन्होने उसे सरल बनाया ।

लघु शोध प्रबन्ध का यह कार्य सम्भवतः श्रीमती आरती बाजपेई) प्रवक्ता, इतिहास विभाग पं0 जे0एन0कालेज, बांदा जैसे विद्वान गुरू को पाकर और सरल हो गया । शायद इनके अभाव में यह कार्य पूरा न हो पाता, इनका मार्गदर्शन एव समय समय पर वार्तालाप अनुकरणीय है । हमारे लघु शोध कार्य के बाजपेई जी निदेशक भी हैं । मैं इनकी हमेशा आभारी रहूंगी ।

इस कार्य को पूरा कराने में हमारे महाविद्यालय के श्रेष्ठ गुरूजनों का भरपूर योगदान रहा है इतिहास विभाग की डा0 माया गोयल एवं कु0 सविता पटेल (प्रवक्ता, इतिहास विभाग पं0 जे0एन0 कालेज, बांदा) के सहयोग को मैं कभी भी नहीं भूल सकती । इन विद्वान गुरूजनों ने मेरी समस्याओं को वार्ता के द्वारा हमेशा दूर करने का प्रयास किया ।

अपने महाविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष एवं पुस्तकालय से सम्बन्धित समस्त कर्मचारी गण का आभारी हूं जिन्होने हमें सहर्ष पठन–पाठन की तरफ रूचि बढ़ायी । इनकी तरफ से समय–समय पर हमें सम्बन्धित पुस्तकें उपलब्ध होती रही जो लघु शोध प्रबन्ध के लिए अमृत घड़ा के समान थीं ।

मैं अपने पिता श्री कन्हैया लाल सिंह एवं माता श्रीमती माधुरी सिंह की बहुत ही आभारी हूं जिनका इस शोध कार्य के दौरान वत्सल्य स्नेह बराबर बना रहा । मेरे बड़े भाई श्री पंकज एवं छोटे भाई नीरज की सुधारवादी प्रवृत्ति ने मेरे इस कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है । ऐसे बौद्धिक भाइयों को पाकर मैं धन्य हो गयी ।

अंत में इस लघु शोध के टंकक श्री मो0 मुबीन खां, डेटा काम कम्पयूटर ट्रेनिंग इन्स्टीटयूट, बांदा की भी बहुत आभारी हूं जिनके अथक प्रयास से मैं अपना लघु शोध प्रबन्ध कार्य स्वच्छ एवं स्पष्ट पायी फिर भी कतिपय त्रुटियों का होना स्वाभाविक है, जिसके लिए क्षमायाचक हूं ।

कु0 ऋचा सिंह

(कु0 ऋचा सिंह)

81683

एम0ए0उत्तरार्द्ध, इतिहास

इतिहास विभाग,

पं0 जवाहर लाल नेहरू महाविद्यालय,

बांदा, उ0प्र0

विषय सूची

अध्याय (1)

प्र स्ता व ना

प्राचीन भारतीय सांग्रामिकता का इतिहास एक अध्ययन

प्रस्तावना ::–

भारतीय इतिहास सैनिको की शानदान गथाओ से अभिरंजित है क्योकि किसी भी समाज या राष्ट्र की पहली आवश्यकता सुरक्षा होती है । राष्ट्रीय सम्प्रभुता की रक्षा, शान्ति की स्थापना, सीमा रक्षा तथा अपनी महत्वकांक्षाओं की पूर्ति के लिए सेना की आवश्यकता भी महसूस की जाती है और सेना भी अपने कर्तव्य का पालन करने में तभी- सक्षम हो सकती है जब वह सुव्यवस्थित और सुसंगठित हो । प्राचीन काल में भी राजाओं के पास सेनायें हुआ करती थी मध्यकाल में भी सेनायें अपने स्वरूप को सवारेंहुए थी और आधुनिक काल में भी हर राष्ट्र के पास सेनायें हैं । यह बात और है कि हर युग की सेना का अलग–अलग रूप अलग–अलग पद्धतियां होती हैं ।सेना का सम्बन्ध जितना शान्ति से है उतना ही युद्ध से भी है, हर काल में युद्ध लड़े गये हैं । युद्ध के लिए सेना में अपनी विशिष्ट पद्धतियों को अपनाती है । यही कारण है कि जो पद्धति प्राचीन काल में अपनायी गयी है वह आधुनिक काल में देंखने को नहीं मिलती । परिस्थितियां बदलती गयी, इस बदलाव के साथ ही यौद्धिक सिद्धान्तों में भी बदलाव आया ।

प्राचीन इतिहासकार, भारतीय सैन्य इतिहास को आर्यो से जोड़कर आरम्भ करते हैं ।

मोहनजोदड़ो एव हड़प्पा की खोज एव खुदाई के बाद 1920-22 में भारतीय पुरातात्विक अन्वेषणकर्ताओ ने इस बात को माना कि भारत में 4–5 हजार वर्ष पूर्व भी एक सभ्यता का विकास था । [1] इस सभ्यता का काल अस्थायी रूप से 3500–2700 ई0 नियत किया गया है । सिन्धु की यह सभ्यता आर्यो से पुरानी थी यह बात निश्चित है । [2] इस सभ्यता के केन्द्र बड़े नगर थे, जबकि आर्य सभ्यता का केन्द्र गाव रहा । [3] मोहनजोदड़ो हड़प्पा खुदाई से प्राप्त सामानों (मकानों में प्रयुक्त होने वाले सामान) निवास स्थानों की विशालता, नगरों के नियोजन, जल व्यवस्था, सुन्दर आभूषणों और विभिन्न पशुओं (बैल, भैंस, भेड़, हाथी ऊंट) से इसकी प्राचीनता एवंसभ्यता का बोध होता है । रूपट और बीकानेर में हुई हाल की खुदाइयों से इस सभ्यता के अधिक विस्तृत होने के प्रमाण प्राप्त हैं । [4] इस सभ्यता की खोज करने के बाद से भारत ने मेसोपोटामियां तथा मिश्र की प्राचीन सभ्यताओं (संस्कृतियों) के साथ स्थान पाया । [5]

जब आर्यो ने पहले पहल भारत में प्रवेश किया तो वे सभ्यता के क्षेत्र में काफी विकास कर चुके थे । यहीं पर प्रश्न उठता है कि आर्य आखिर आये कहां से ? इस विषय पर कोई निश्चित मत नहीं है लोक मान्य तिलक के मतानुसार आर्य लोग आर्कटिक प्रदेश से आये ।[6] यद्यपि इस विषय में अन्य मत भी है अधिकतर इतिहासकार इस विचार से सहमत हैं कि आर्य मध्य एशिया में केस्पियन समुद्र (झील) के निकट के प्रदेश से आये । [7] वे वहां से अपने मवेशियों के लिए नये चारागाहों की खोज में कबीलों में चलें । भारत में आर्यो का आगमन खैबर दर्रो के द्वारा 2000 ई0पू0 के लगभग हुआ । [8] यूरोपिय विद्वानों के अनुसार ईसा से

---

(1) पणिक्कर, के0एम0 : ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री, 1954 पृष्ठ–28
(2) वही
(3) पणिक्कर, के0एम0:: द आइडिया आफ सोवरजीनिटी एण्ड स्टेट इन इण्डियन पोलिटिकल थाट 1963 पृ0–34
(4) पणिक्कर, के0एम0, ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री 1954, पृष्ठ–3, 4
(5) शरण, परमात्मा, : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थायें 1974, पृष्ठ–30
(6) मजूमदार, वी0के0 : मिलिट्री सिस्टम इन एंशियन्ट इण्डिया 1955, पेज–9
(7) डूॅरेटवील, द स्टोरी आफ सिविलाइजेशन 1949, पेज, 395
(8) शरण, परमात्मा, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थायें 1974 पेज0 – 30

2,500 साल पहले आर्यों का आगमन भारत में विदेशी हमलावरो जैसा हुआ ।[9] आर्य शिकारी की दशा से आगे बढ़कर पशुपालक और कृषक की दशा को पहुंच चुके थें । राजनीतिक दृष्टि से जनों में संगठित थे । जन को हम कबीला या ट्राइब समझ सकते हैं ।[10] राजनैतिक संगठन का विकास भी क्रमिक रूप में हुआ । गृहों (परिवार) से कुल बने उनके बाद ग्राम बने, ग्रामों के समूहों से विश बने और उनके बाद जनों का निर्माण हुआ । अन्त में राष्ट्र की उत्पत्ति हुई । परिवार का मुखिया प्रधान पुरूष होता था, कुल का कुलपति, ग्राम का ग्रामणी और विश का विशपति । विश से बड़ा समूह जन कहलाता था । प्राचीन वैदिक साहित्य में अनेक जनों का उल्लेख है ।[11] वैदिक समुदायों में ग्राम सबसे छोटे और जन सबसे ऊंचे राजनीतिक व सामाजिक संघ थे ।[12] इस प्रकार विभिन्न जनों (कबीलों या ट्राइब्स) में विभक्त आर्यो ने भारत भूमि पर कदम रखा और अनार्यो पर विजय प्राप्त कर अपनी अनेक बस्तियों की स्थापना की । जिस बस्ती पर जिस जन का अधिपत्य हो जाता था उस बस्ती को उसी जन के नाम से जनपद की संज्ञा दी जाती थी ।[13] ऋगवेद में विजयी अनेक आर्ये के नाम जनों के आधार पर रखा हुआ मिलता है । यथा भारत यादव आदि ।[14] आर्य विजेताओं के पांच बड़े समूहों को भी पंचजनत कहा गया है । डॉ0 सिन्हा ने लिखा है कि प्रारम्भ में आर्यो का संगठन जनों के रूप में था । छोटे छोटे जन मिलकर अनार्यो से युद्ध करते थे और ऐसे विजेता जन आपास में मिल जाया करते थे ।[15] उत्तर ऋगवैदिक काल में पुरू जन और भारत जन में मेल हो गया । यद्यपि वे प्रतिद्वन्दी थे और दोनों जन आगे चल कर कुरूजन में मिल गये । समय बीतने के साथ ये जन पृथक अथवा संयुक्त रूप में ग्रामों में बस गये और खेती तथा अन्य उद्योग करने लगे ।[16] जिस भूखण्ड पर वे बसे उसके प्रति उनमें प्रेम की भावना उत्पन्न हुइ होगी उस भावना से जिसे रक्षा और आक्रमण की आवश्यकताओं को सुदृढ़ बनाया होगा । राजनीतिक चेतना उदय हुई

---

(9) सुन्दरलाल, भारत में अंग्रेजी राज 1929, पृष्ठ–45 और कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डियन वाल्यूम 1 पे–697
(10) ऋगवेद, 812613
(11) वही
(12) वन्धोपाध्याय, एन0सी 1925 डेवलपमेंट आफ हिन्दू पौलिसी एण्ड पौलिटिकल थ्योरीज पृष्ठ– 60
(13) कुलश्रेष्ठ– मेजर आर0सी0 भारतीय सैन्य विज्ञान, 1970 पृष्ठ–165
(14) ऋगवेद 315312 और शरण, परमात्मा, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थायें पृ0– 76
(15) सिन्हा एच0एन0– द डेवलपमेन्ट आफ इण्डिया पोलिटी, 1975 पृष्ठ– 22–24
(16) मैकडोनेल– ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ– 157–59

होगी । इस प्रकार आर्यो मे प्रथम तथा प्रारम्भिक राज्य की उत्पत्ति हुई होगी जिसे उन्होने राष्ट्र नाम दिया ।[17] यद्यपि राष्ट्र नाम किसी जन से सम्बद्ध रहा किन्तु उसमें केवल एक ही जन के व्यक्ति न रहे होंगे अर्थात राष्ट्र एक रस जनसमूह न था । [18] परन्तु राष्ट्र का उदय तभी सम्भव हुआ जबकि जनीय संगठन क्षीण पड़ा और जनसमूह ग्रामों में स्थायी रूप से रहने लगा । राष्ट्र ग्रामों का ही विकसित रूप रहा होगा ।[19]

राजनैतिक वातावरण में एक जनपददूसरे जनपद पर अधिकार स्थापित करने हेतु युद्ध का प्रयोग करता था, जो परस्पर शत्रुता का कारण होता था । इस तरह संघर्ष परस्पर होतारहता था । रामायण एवं महाभारत काल तक ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जो यह प्रमाणित कर सके कि इस काल तक भारत एक सूत्र में बंध गयाा था एक साम्राज्य की स्थापना सिद्ध करता हो । कुलश्रेष्ठ ने लिखा है कि वैदिक साहित्य में आर्यो के नौ राज्यों तथा अनार्यो के भी अनेक जनपदों का उल्लेख मिलता है । उसके बाद पाणिनीय व्याकरण (लगभग 700 ई0पू0) के आधार पर अनेक जनपदों का परिचय मिलता है । बौद्ध एवं जन साहित्य में इस प्रकार सोलह जनपदों पर प्रकाश डाला गया है ।[20]

वैदिक युग में आर्यो ने जो छोटे–छोटे राज्य स्थापित किए थें वह मगध साम्राज्य के विकास तक अपने कलेवर अच्छी तरह बदल लिये थे । उनके शक्तिशाली महत्वाकांक्षी आर्य राजाओं ने पड़ोस में बसने वाले आर्य विभिन्न लोगों को जीतकर या निर्बल आर्य राजाओं को ही अपनी अधीनता में लाकर अपने राज्यों के क्षेत्र को विस्तृत कर लिया था । [21] विशाल राज्यों की स्थापना के साथ आर्यो का संस्कृतिकएवं राजनीतिक प्रभुत्व भी पूर्ण और दक्षिण की ओर फैला । आर्यो के विस्तार एवं बढ़ते हुए उपनिवेशों के साथ–साथ पशिचमी पंजाब क्रमशः उपेक्षित हो चला था और अब आर्य संसकृति का केन्द्र पंजाब से हटकर सरस्वती एवं गंगा के बीच के प्रदेश में आ गया था । यह प्रदेश मध्य प्रदेश अथवा आर्यावर्त कहलाता था । इसी क्षेत्र से आर्यो की संस्कृति

---

(17) ऋगवेद 20/127–9–10
(18) ऋगवेद 19/20–3–4
(19) तैस्तिरीय संहिता 2/6–98–2 एतरेय ब्राम्हण 8/2/6, और 8/3/13
मैकडोनेल, क्रीध ए हिस्ट्री आपु संस्कृत लिटरेचर पृष्ठ– 159
(20) कुलश्रेष्ठ– मेजर आर0सी0– भारतीयसैन्य विज्ञान पृष्ठ– 165
(21) शरण, परमात्मा, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थायें पृष्ठ– 182

पूर्व एव दक्षिण की ओर अन्य प्रदेशो मे फैली । [22]ऋगवैदिक कालीन अनेक जातिया अब विलुप्त हो गयी थी । और अब उनके स्थान पर नवीन जातियों का अविर्भाव हुआ था । भरत एवंपुरू जातियों का स्थान कुरू, पचाल और काशी ने ले लिया था, जिन्होने उत्तर वैदिक काल की राजनीति में महत्वपूर्ण भाग लिया था । पुरू की और कौशल (अवध) काशी और विदेह(उत्तर बिहार) के राज्य आर्यो के नवीन केन्द्र बन चुके थें ।[23] उनके आगे मगध (दक्षिण बिहार) और अंग राज्यसम्भवतः आर्य प्रभाव से अभी बाहर थे । इस युग में प्रथम बार हम आंध्र बंगाल के पुण्ड्रों उड़ीसा और मध्य प्रान्त के शवरों तथा दक्षिण पश्चिम के पुलिन्दों के नामों के सुनते हैं ।[24] जातियों के सम्मिश्रण, नवीन प्रदेशों की विजय और फलस्वरूप राज्यों का विस्तार एवं युद्धों में नरेशों के सफल नेतृत्व से राजा की सत्ता और उसके पदाधिकारियों में वृद्धि हुई ।[25] इक्ष्वाकुवंशी राजा रघु और पौरववंशी भरत जैसे राजाओं के राज्य केवल सजात जन तक ही सीमित नहीं रहे थे । ऐसे भी अनेक राज्य अब स्थापित हो चुके थें उनमें एक से अधिक जन (कबीला या ट्राइब) सम्मिलित थे ।

इस प्रकार प्राचीन भारत में बहुत छोटे–छोटे राज्यविद्यमान हो गये थे । मगध उस समय का एक शक्तिशाली राज्य था, अतः उसने अपने शक्ति प्रसार हेतु साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया और आर्य वंशों द्वारा स्थापित राज्यों को जीत कर मगध का एक विशाल चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित किया । प्राचीन आचार्यो का मानना है कि राज्य व्यवस्था में सैन्य तत्व महत्वपूर्ण एवं प्रधान तत्व होता हे । [26] क्योंकि उनका विश्वास था कि राष्ट्रीय हितों के संरक्षण एवं सम्बर्द्धन में राष्ट्रीय शक्ति एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है ।[27]

---

(22) शरण, परमात्मा, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थायें पृष्ठ– 182
(23) दत्त, एन0के0 : दि आर्गेनाइजेशन आफ इण्डिया 1925 प्री–मुसलमान इण्डिया ।
रंगाचारी, बी0 वैदिक भारत भाग–1 खण्ड–2 परिच्छेद–3
(24) वही (पूर्वोद्धृत) पृष्ठ– 31
(25) भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास पृष्ठ– 64–65
(26) शुक्रनीति 4/109
(27) वही

1.1 युद्ध का प्राचीनतम स्वरूप :::–

1.1क विचारधारा::–

युद्ध का इतिहास विचारकों के दृष्टिकोण से मानव इतिहास से भी पुराना है । लेकिन यह मानकर कि युद्ध एक सामाजिक तथ्य है, यह कहा जा सकता है कि युद्ध उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव जाति । मनुष्य भी एक सामाजिक प्राणी है । जब से वह पृथ्वी पर कदम रखा तब से ही वह किसी न किसी रूप में युद्ध करता रहा है । युद्ध अवश्यम्भावी है । इतिहास इस बात का प्रमाण है कि युद्ध इस मानव जीवन के लिए आवश्यक रहा है । मानव इतिहास युद्धों से भरा पड़ा है । इतिहास मानव जीवन की उन समस्त घटनाओं का अभिलेप है, जो किसी समय अथवा काल में घटी हों । मानव जाति का इतिहास युद्ध ही है और इतिहास के पूर्ण काल में तो हत्यापूर्ण संघर्ष कभी समाप्त ही नहीं हुए ।[28] युद्ध एक मानवीय प्रक्रिया है । जिस समय मनुष्य सामाजिक नहीं था, यह अटपटा तथा नंगे बदन ही सहचर करता था ।फिरन्दरी अवसथा में कन्दराओं तथा गुफाओं में निवास करता था, उस समय भी वह आपसी घृणा, द्वेष तथा घोषणात्मक प्रवृत्ति के कारण आपस में संघर्ष करता था । इतिहास के प्रारम्भ से ही युद्ध मानव जाति का अटूट सहचर रहा है । यह हमारे इतिहास में नियम रहा है न कि अपवाद ।[29]

समयरूपी प्रवाहमान धारा का अनगिनत गोता लगाता रहा । सभ्यता अपने विकास क्रम पर नित्य प्रतिदिन बढ़ती रही । ज्यों–ज्यों मनुष्य आधुनिक अवस्था को प्राप्त करता गया, उसी प्रकार आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं वैज्ञानिक विकास के साथ–साथ युद्धकला का भी विकास होता रहा । समय के उतार चढ़ाव के बावजूद भी युद्ध की विचार धारा कभी समाप्त नहीं हुई, भले ही सारी परिस्थितियां बदल गयी हों । यद्यपि धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं नैतिक प8तियां केवल बदलती ही नहीं अपितु कभी–कभी पूर्णतया लुप्त हो जाती है, सैनिक पद्धतियां बदलती तो है परन्तु युद्ध कभी पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुआ है ।[30]मानव

---

(28) चर्चिल डब्ल्यू0 एस0 : थाट एण्ड एडवेन्चर पृष्ठ– 38
पालीवाल कैप्टन : वी0एन: राष्ट्रीय सुरक्षा पृ0– 3
(29) कनेडी, जे0एफ0 द्वारा लिखा गया उद्धृत
मालीवाल कैप्टन, वी0एन0: राष्ट्रीय सुरक्षा पृ0– 3
(30) जे0एफ0सी0 फुलर : अर्मामेन्ट एण्ड हिस्ट्री पृ0 3
मालीवाल कैप्टन वी0एन0/ राष्ट्रीय सुरक्षा पृ0–3

सभ्यता ही ऐसा है कि वहन चाहते हुए भी युद्ध म कूदता है । मनुष्य के आर्थिक सामाजिक राजनैतिक तथा वैज्ञानिक विकास मे युद्ध का महत्वपूर्ण यागदान है ।[31]

1.1ख प्राचीनतम स्वरूप

मानव का पृथ्वी पर आना तथा युद्ध का वरण करना लगभग एक ही साथ प्रतीत होता है प्रारम्भिक काल मे जब मानव जीवन रक्षा हेतु भेजन की आवश्यकता महसूस किया ऐसे समय में उसे अनेक जंगली जीव जन्तुओं से संघर्ष करना पड़ा ।[32] धीरे–धीरे बंटवारे का मामला लेकर मनुष्य–मनुष्य से युद्ध किया अतः प्रारम्भ में जंगली जीव–जन्तुओं से सुरक्षा तथा उन्हें आत्मघात पहुंचने के लिए मनुष्य ने शस्त्रों का निर्माण किया फिर बाद में वे इन शस्त्रों को मानव संघर्ष में प्रयुक्त करने लगे ।[33] मनुष्य ने सर्वप्रथम संगठन बनाये, जो युद्ध के लिए थे, शान्ति के लिए नहीं और उसने शस्त्रों का प्रथम निर्माण भी युद्ध के लिए किया न कि शान्ति के लिए ।[34] इस तरह इन संघर्षो के कारण ही मानव में एक संगठन की भावना जागृत हुई जिसे सैनिक संगठन कहा गया ।

भारत का सबसे प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थ ऋगवेद है । ऋगवैदिक काल से पहले मात्र मौखिक कथाओं का प्रचलन था, जिससे पीछे की कथाओं का ज्ञान होता था । ऋगवेद द्वारा ही यह पता चलता है कि प्राचीनकाल में भारतीय युद्धकला से पूर्ण परिचित थे , तथा वे यौद्धिक क्षेत्र में पूर्ण निपुर्ण भी थे । डॉ0 राधाकुमुद मुकर्जी का मत हे कि ऋगवैदिक कालीन युद्ध विद्या से पूर्ण रूपेण परिचित थे ।[35] ऋगवेद ही दस राजाओं का प्रथम प्राचीन कालीन युद्ध का वर्णन करता है जिसमें भरत जाति के राजा सुदास ने अपने साम्राज्य वादी नीति के अनुसार राज्य विस्तार हेतु तत्कालीन आर्य और अनार्य जातियों के राजाओं के साथ युद्ध किया । इस युद्ध में सुदास की विजय हुई और वह ऋगवैदिक कालीन भारत का सर्वोपरि सम्राट बन गया ।[36] इसी प्रकार ऋगवेद से ही कुछ अन्य युद्धों का वर्णन मिलता है ।जिसमें आर्य तथा अनार्य जातियां ज्यादातर भाग लेती

---

(31) सिंह, दीप नारायन, राष्ट्रीय सुरक्षा, पृ0– 3
(32) पोर्टवे, कर्नल डोलल्ड, मिलिट्री साइस टूडे, पृ0– 13
(33) मजूमदार, विमलकान्ति, दि मिलिट्री सिस्टम इन एंशिएन्ट इण्डिया पृ0– 1
(34) कुलरेष्ठ– मजर आर0सी0, स्टडी आफ मिलिट्री साइंस एवं यूनिवर्सिटी, हिन्दुस्तान स्टैन्डर्ड 27 जून 1955
(35) मुकर्जी, राधाकुमुद ; एशिएन्ट इण्डिया, पृ0–60
ऋगवेद 10/54–2–1/61/19
(36) वही . प0–54. तथा ऋगवेद, 7/23/2–5/83–8.

थी । इन्द्र ने नगरो को उजाड़ दिया और काले दासो (अनार्यो) की सेनाओ को नष्ट कर दिया ।[37]एक स्थल पर कृष्ण वर्ण वाले शत्रुओं के युद्ध क्षेत्र में 50000 व्यक्तियों के संहार का वर्णन किया गय है ।[38]

प्राचीन भारतीय साहित्य में युद्ध का वर्णन पूर्ण विकसित रूप में प्रस्तुत किया गया है । भारतीय धर्म ग्रन्थ इस बात पर ज्यादा बल देते हैं कि राज्य की स्थापना केवल इसलिए होती थी कि मत्स्य न्याय की स्थिति को समाप्त कर सुखी नागरिक जीवन की स्थापना की जाय । भारतीय सप्तांगी राज्य में प्रमुख स्थान राज्याध्यक्ष को प्राप्त है, [39] इसलिए उसे दण्डधर[40] उपाधि से भी विभूषित किया गया है क्योंकि वह अनियंत्रित लोगों को दबाव में रखता हे और अभद्र तथा अनीतिमान को दण्डित करता है ।[41] विभिन्न ग्रन्थ भिन्न भिन्न प्रकार की शासन प्रणालियें का वर्णन करती है लेकिन शासनाध्यक्ष काजो गुण सामने उभर कर आता है वह सामरिक महत्व को विशेष रूप में निखार दिये हुए है । शुक्रनीत में कहा गया है कि जो राजा बलवान बुद्धिमान, सूरवीर और युक्त पराक्रमी होता है वह राजा द्रव्य से पूर्ण पृथ्वी को भोगता और वही राजा भूपति कहलाने योग्य है ।[42] लगभग समानता लिये हुए यही व्याख्या हर ग्रन्थ प्रस्तुत करता है ।राजाभिषेक के समय जब राजा शपथ ग्रहण करता था उस समय भी वह ज्यादा महत्व राष्ट्र तथा अपने नागरिकों की रक्षा का देता था । शान्तिपूर्ण के अनुसार राजा पृथु ने देवों और मुनियों के समक्ष शपथ ली थी कि वह राष्ट्र की रक्षा करेगा, दण्डनीतशास्त्र, द्वारा निर्धारित कर्तव्यों का पालन करेगा तथा अपने मन की कमी नहीं करेगा ।[43] नारदपुराण तो राजा को जनता का नौकर मानता है, उनकी धारणा हे कि राजा प्रजा का नौकर है, जिसकी रक्षा करने के कारण उसे वेतन रूप में कर दिया जाता है ।[44] कौटिल्य का अर्थशास्त्र कहता है कि कोई भी सदाचारी राजा

---

(37) वही पृ0–55 तथा ऋगवेद 2/20–6/7
(38) वही पृ0–55 तथा ऋगवेद 4/16/13
(39) बृहदारण्यक उपनिषद, 1/4/14
(40) महाभारत, शान्तिपर्व, 15/8
(41) व्यास जी, किंगवडेकर, एवं शास्त्रीय रामचन्द्र, महाभारत शान्तिपर्व–15/8
(42) शुक्रनीति–1/174 एवं
शर्मा, योगेन्द्र कुमारः प्राचीन भारतीय राजनय एवं युद्ध तकनीकि पृ0–16
(43) व्यास जी किंगवडेकर, एवं शास्त्री प0 रामचन्द्र, महाभंरत शान्तिपर्व 59/106/ 108
(44) नारदपुराण (प्रकीर्णक 48) तथा योगेन्द्र कुमार : प्राचीन भारतीय राजनय एवं युद्ध तकनीकि पृ0– 16

किसी युद्ध के प्रारम्भ में अपने सैनिक को उत्साह करने के लिए तथा उसे प्रेरित करने के लिए इस प्रकार कहता है कि मैं भी तुम लोगों की भांति वेतन भोगी हूं, इस राज्य का उपयोग मुझे तुम लोगों के साथ ही करना है, तुम्हें मेरे द्वारा बताये गये शत्रु को हराना है । 45 नागरिकों तथा सैनिकों को युद्ध क्रिया में भाग लेने के लिए प्रेरित करना लगभग सभी ग्रन्थों में उपदेश दिए गये हैं । वे राजा को युद्ध करते-करते मर जाने पर स्वर्ग की इच्छा रखते हैं । सैनिक के प्रति भी इनका विचार है कि रणक्षेत्र में मर जाने पर स्वर्ग प्राप्त होता है ।[46]

प्राचीन भारतीय ग्रन्थ एक सुव्यवस्थित सैन्य संगठन, युद्धकला, युद्धनीति तथा उन तमाम पहलुओं को जो युद्ध से सम्बन्धित होते हैं, का स्पष्ट तथा वर्णन प्रस्तुत करते हैं । प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के आधार पर जितने युद्ध के सम्बन्ध में जागरूक थे उतने ही वे विजयोपरान्तकी जाने वाली सन्धि को भी उचित रूप देने के लिए प्रयत्नशील थे । ग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता हे कि विजयी राजा के ऊपर उस राज्य की भी जिम्मेदारी आ जाती थी जिसे वह विजित किया था । इस तरह के सुन्दर आदर्श सामान्यतया प्राचीन काल में देखने को मिलता है । रूद्रदामान तथा समुद्रगुप्त ने विजित राष्ट्रों पर उनके भूतपूर्व शासकों को पुनः राजा के रूप में स्वीकार किया था ।[47]

उपर्युक्त प्राचीन भारतीयों के युद्ध सम्बन्धी ज्ञान का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में गवेषणात्मक तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन करना ही इस लघु शोध प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य है । क्योंकि प्राचीन भारतीयों ने युद्ध का समग्र रूप से गहन-मनन और चिन्तन किया था और इस सम्बन्ध में उन्होने जिन सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया वे आज आधुनिक युग में अनुकरणीय हैं ।

1.2 प्राचीन भारतीय सांग्रामिकता के आवश्यक तत्व :::-

सांग्रामिकता से तात्पर्य यह है कि इस शीर्शक के अनतर्गत किन-किन बातों का अध्ययन किया जाता है, जो किसी भी काल की सैन्य पद्धति का पूर्ण रूप से अवलोकन प्रस्तुत करे । कहने का

---

(45) कार्णे, पी0वी0: धर्मशास्त्र का इतिहास (काश्यप अर्जुन चौबे द्वारा अनुदित) भाग 2 पृ0-590
(46) वहीं पृष्ठ- 602
(47) वही पृष्ठ-608

तात्पर्य यह है कि सैन्य पद्धति अथवा साग्रामिकता का निर्माण कई ऐसे आवश्यक तत्वो द्वारा हु व हें जो सैन्य पद्धति के काल–विभाजन, सभ्यता और युद्ध प्रक्रिया से सम्बन्धित हे । उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता है कि किसी भी काल की युद्ध पद्धति का विश्लेषण करने पर सबसे पहले जिज्ञासा उठती हें कि हमें उस काल के बारे में अध्ययन सामग्री हेतु स्त्रोत क्या मिल सकते हैं ? उन स्त्रोतों के आधार पर ही आगे बढ़ा जा सकता हे और फिर सभ्यता के क्रम में इस युद्ध का विवरण प्राप्त होता हे जिससे यह पता चलता हे कि सैनओं की रचन तथा संगठन आदि कैसे थे, उनको शिक्षण–प्रशिक्षण किस ढंग से दिया जाता था ? वेतन भत्ता आदि कितना दिया जाता था आदि ? समस्त बातों का विवरण जब हम प्राप्त करते हैं तो वह किसी काल की सैन्य पद्धति के रूप में मानी जा सकती है । इस तरह साग्रामिकता को निम्न तत्वों में बांटा जा सकता हे ।

(1) सैन्य सामाग्री एवं अध्ययन के स्त्रोत

(2) सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक पृष्ठभूमि

(3) सेनांग और सैन्य संगठन

(4) शिक्षण–प्रशिक्षण

(5) वेतन भत्ता

(6) युद्ध निर्देशन तथा संचालन

1. युद्ध एवं सेना सम्बन्धी नीति निर्धारण अंग
2. योजना नियत्रंण अंग
3. योजना को क्रियान्वित करने वाला अंग
4. युद्ध के लिए अर्थव्यवस्था तथा अस्त्र शस्त्र एवं साज सामान की व्यवस्था करने वाला अंग ।

(7) युद्ध कला

भारतीय सांग्रामिकता के ज्ञानार्जन तथा अध्ययन हेतु स्त्रोत नितान्त आवश्यक होता हे । मजूमदार ने प्राचीन भारतीय सैन्य पद्धति के ज्ञान प्राप्ति के दो प्रमुख स्त्रेत बतलाया हे । [48] जिसमें

---

(48) मजूमदार, बी0के0 : दि मिलिट्री सिस्टम इन एशियेंट इण्डिया पृष्ठ– 3

साहित्यक एव पुरातात्विक स्त्रोत मनुष्य हे ।

साहित्यक स्त्रोत को धर्म तथा रचनाओ के आधार पर देखा जाये तो यह कई भागो मे विभाजित किया जा सकता है । साहित्यक को 4 भागो मे विभाजित करके अध्ययन किया जा सकता हे ।[49] धर्म के आधार पर लिखे गये साहित्य को धार्मिक साहित्य, युद्ध साहित्य, ऐतिहासिक साहित्य तथा विदेशियों द्वारा वर्णित साहित्य की संज्ञा दी गयी है । धार्मिक साहित्य में, वैदिक साहित्य जैसे ऋगवेद, सामवेद, यर्जुवेद तथा अर्थर्ववेद, ब्राम्हण, उपनिषद, वेदान्त सूत्र ग्रन्थ, धनुर्वेद रामायण, महाभारत, पुराण बौद्ध साहित्य तथा जैन साहित्य आदि आते हैं ।

शुद्ध साहित्य में, पाणिनी के अष्टाध्यायी, कालीदास के रघुवंश, विशाखदत्त के मुद्राराक्षस तथा वाणभट्ट के हर्षचरित आदि विशेष उल्लेखनीय हैं । इनसे प्राचीन सांग्रामिकता की जानकारी मिलती हे ।

ऐतिहासिक साहित्य में कौटिल्य का अर्थशास्त्र, शुक्रनीतिसार, वैशम्पायन द्वार वर्णित नीति प्रकाशिका का वर्णन किया गया है ।

विदेशी साहित्यक स्त्रोत अथवा यात्रा साहित्यक स्त्रोत के अन्तर्गत चार वर्गो का वर्णन किया गया है । जिसके आधार पर यह चार भागों में बांटा गया है ।

(1) ईरानी यात्रा साहित्य

(2) युनानी अथवा लैटिन साहित्य

(3) चीनी साहित्य तथा

(4) अरबी साहित्य

भारत में उपलब्ध यात्रा साहित्य में मुख्य रूप से ईस्का ईलाक्स तथा टेसियस द्वार वर्णित भारत का व्यवस्थित, विवरण मिलता ह । भारतीय युद्ध पद्धतियों पर यूनानी लेखकों में एरिएन डियोडोरस प्लिनी,

---

(49) सिंह लल्लन जी, भारतीय सैन्य इतिहास, पृष्ठ– 18, 19

प्लूटाके कटियस आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । चीनी यात्रियो के फाइयन आर ह्वेनसाग के विचार मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं । सुलेमान अलमसूदी और आबूर्जन आदि मुसलमान लेखक ने भी भारतीय साग्रामिकता पर प्रकाश डाला है ।

पुरातात्विक स्त्रोत उन सामाग्रियो से अपना सम्बन्ध रखता है जो खुदाई या पृथ्वी के उत्खनन से प्राप्त होते हैं जिससे प्राचीन समय की सभ्यता सामरिक शस्त्र सामाजिक तथा राजनैतिक दशा आदि का अध्ययन किया जाता है । यह मुख्य रूप से तीन प्रकार के होते हैं ।

(1) अभिलेख (2) सिक्के और (3) स्मारक एवं अग्नावशेष

प्राचीन समय में सामरिक जानकारी हेतु पत्थरों, ताम्रपत्रों, स्तम्भों भवनों की दीवारों आदि पर लेख लिखा जाता था, जिससे सैन्य पद्धति की भी जानकारी होती थी । जैसे अशोक के कलिंग अभिलेख, हाथी गुम्फा के अभिलेख जिसमें समुद्रगुप्त एवं ठारवेल की विजय की जानकारी होती है जूनागढ़, नासिक तथा पूना के अभिलेख महत्वपूर्ण हैं । वोगेजकोई के लेख से आर्यो के आक्रमण का परिचय मिलता है ।

सिक्कों के द्वारा प्राचीन राजा अपने देश की वेशभूषा, अस्त्र–शस्त्र तथा सैनिक का बोध कराता था, जिससे सैन्य पद्धति की जानकारी मिलती है ।

स्मारक तथा अग्नावशेष भारत की सभ्यता, संसकृति आदि का तोवर्णन करते ही हैं, साथ ही यह भी बताते हैं कि यह खण्डहर सामरिक दृष्टि से क्या कह रहा है । जैसे किलेन्द्री तथा बाहरी आक्रमणों से रक्षार्थ चहारदिवारी आदि का अग्नावशेश यह बताता है कि प्राचीन भारत की सैन्य व्यवस्था सुरक्षा के दृष्टिकोण से बहुत ही मजबूत था । यज भी प्राचीन भारतीय सैन्य पद्धति के बारे में अध्ययन कराता है ।

सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से समाज में होने वाले परिवर्तन तथा उतार–चढ़ाव भारतीय सैन्य–पद्धति को प्रभावित करता है । क्योंकि युद्ध द्वारा ही समाज में परिवर्तन होता हे और युद्धपद्धति तथा सैन्य पद्धति से मूलरूप में सम्बन्ध रखता है । कहने का तात्पर्य यह है कि सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक ढांचा सैन्य पद्धति के बारे में मूक प्रदर्शन करता है ।

सेनाग तथा सैन्य संगठन के अन्तर्गत हम इस निष्कर्श पर पहुंचते हैं कि किसी राष्ट्र की सेना

किस प्रकार क सैनिको द्वारा निर्मित होती है । उसमे स्थायी तथा अस्थायी एव ऐच्छिक ऑर व्यवसायिक सैनिको की सख्या क्या हे ? सैनिको की भर्ती कानूनी ढग से किया जाता हे या उसका तरीका कुछ आर है । सेन। का अनुशासन तथा मनोबल आदि का किस तरह स प्रयोग किया जाता हे । सेन। म भर्ती किस तरह की जातिया का किया जाता है तथा आफीसर किस तरह बनाये जाते हे आदि का विश्लेषण किया जाता हे ।

शिक्षण–प्रशिक्षण शीर्षक के अन्तर्गत सेना की एकरूपता के रूप में प्रशिक्षण य। सामूहिक रूप में प्रशिक्षण को दिया जाता हे आदि का विश्लेषण किया जाता हे । सेन। को शिक्षित तथा प्रशिक्षित करने की विधियों का विश्लेषण किया जाता है । ज्यादातर यह कार्य सेन। की रचना पर निर्भर करता हे । यह प्रशिक्षण विधि द्वारासेन। की कार्य कुशलता में किस तरह का निखार आता हे आदि का भी विश्लेषण इस शीर्षक के अन्तर्गत किया जाता है ।

सेना को प्रशिखित करने के बाद उसे अस्त्र–शस्त्र से सजाया जाता है । इस शीर्षक के अन्तर्गत सेन। को किस तरह का शस्त्र दिया जाता हे आदि का विवेचन किया जाता हे । मुख्य रूप से देखा जाता हे कि क्य। सेना के पास आक्रमणात्मक शसत्र है या सुरक्षात्मक या दोनों तरह के हें ।

वेतन भत्ता के रूप में यह देखा जाता है कि सेना को पदों के अनुसार किस तरह का वेतन भत्ता दिया जाता है । मरणोपरान्त भी कोई भतता दिया जाता हे या नहीं, साथ ही वेतन का क्रम क्य। होता है ? क्य। यह स्थायी वेतन होता था या अस्थायी ? आदि का विश्लेषण इस शीर्षक के अन्तर्गत किया जाता है ।

युद्ध निर्देशन तथा संचालन यह उन सभी पहलुओं को मद्देनजर रखकर शीर्शक रखा गया हे जो अपने अन्तर्गत युद्ध नीति, जो युद्ध से पूर्व बनायी जाती है तथा युद्ध के बाद की नीति का विश्लेषण कराती है, साथ ही योजना को क्रियान्वित करने वाले अंग कौन–कौन से हें ? आदि का विवेचन कराती हे और युद्ध के लिए अर्थव्यवस्था तथा अस्त्र–शस्त्र एवं साज–सामान की व्यवस्था किस तरह से की जाती है सबका सम्यक रूप से विश्लेषण किया जाता है ।

युद्धकला जो साग्रामिकता अथवा सैन्य पद्धति का अन्तिम रूप हाता हे अपन अन्दर विभिन्न पहलुओ को समाहित किए हुए हैं । इसके अन्तर्गत युद्धकला किसी राष्ट्र की आक्रमणात्मक एव सरक्षात्मक युद्ध तकनीक का विश्लेषण कराती है । युद्धकला के लिए मैदान आदि का चुनाव भी जो युद्ध म कौशल -प्रदर्शन का एक मात्र स्थान होता है आदि का विश्लेषणात्मक अध्ययन कराता है ।

इस लघुशोध के माध्यम से उपरोक्त शीर्षकों के अन्तर्गत प्राचीन भारत की सांग्रामिकता का गवेषणात्मक एवं विवेचनात्मक अध्ययन करने का सेहतुक प्रयास करना ही मेरा उद्देश्य है ।

—::*::—

अध्याय (2)

प्राचीन भारतीय युद्ध संचालन एवं निर्देशन

प्राचीन भारतीय युद्ध संचालन एवं निर्देशन

किसी भी राष्ट्र की सैनिक कार्यवाही अपनी सफलता में विश्वास तभी कर सकती है जब उस राष्ट्र की सेना सुसंगठित, अनुशासित एवं सुरक्षा योजना आदि क्रियाओं से परिपूर्ण हो । क्योंकि विजय के लिये सेनाओं एवं अनयुधों की संख्या, रणनीति, युद्धकला तथा सैनिक आपूर्ति की व्यवस्था इत्यादि महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । सेना के विभिन्न अंगों का संगठन सैनिक के चुनाव एवं नियुक्ति, सैन्य सामाग्रियों का संग्रह, सैनिकों की सुख–सुविधा का प्रबन्ध, सामरिक योजनाओं का निर्माण तथा अन्य राष्ट्रो से सैनिक सम्बन्ध आदि कार्यो का सुसंचालन आवश्यक होता है । सेना के कार्य को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए युद्ध विभाग होता है । प्राचीन भारत में भी ऐसे कार्य करने के लिए विभिन्न प्रकार के सैनिक कार्यवाही हेतु पृथक–पृथक विभाग बनाये गये थे । इन विभागों पर सम्बन्धित कार्यो का दायित्व होता था । प्राचीनकाल में विकसित सैन्य पद्धति के मूल मे युद्ध संचालन की कुशलता का महत्वपूर्ण योग था । इस कुशलता को बनाये रखने के लिए अनेक विभागों की स्थापना की गयी थी । इन विभागों का विवरण इस प्रकार है ।[1]

1– अर्थशास्त्र , 2/17/1, तथा
शुक्रनीति, 2/95/

(1) युद्ध समिति एवं परिषद,

(2) मुख्य सैन्य कार्यालय,

(3) यौद्धिक वित्त विभाग

(4) आयुधागार

(1) समिति एवं परिषद :::–

यौद्धिक संक्रियाओं को सही निर्देश देने के लिए जिस प्रकार आधुनिक युग में मंत्रिमण्डल की सलाह एवं दिशा निर्देश की जरूरत पडती है । भारतीय दृष्टिकोण से यौद्धिक संक्रियाओं के बारे में विचार–विमर्श के लिए सुरक्षा मंत्रिपरिषद और उसके ऊपर मंत्रिमण्डल की सुरक्षा समिति होती है । सैनिक विषयों पर पहले सुरक्षा मंत्रिपरिषद विचार करती है, जिसका प्रधान राष्ट्र का सुरक्षा मंत्री होता है और जल, थल, तथा नभ सैनिकों के चीफ आफ दि स्टाफ उसकी परिषद के मुख्य सदस्य होते हैं । इस परिषद के द्वारा प्रस्तावित विषय मंत्रिमण्डल की सुरक्षा परिषद में प्रस्तुत किया जाता है । इस परिषद का प्रमुख भारतीय प्रधान मंत्री होता है और सुरक्षा मंत्री, वित्त मंत्री तथा उप प्रधान मंत्री इसके प्रमुख निर्णायक अधिकारयुक्त सदस्य होते हैं । इस परिषद के पश्चात मंत्रिमण्डल और तदुपरानत संसद उस विषय का अन्तिम निर्णय करती है ।

उसी प्रकार प्राचीन भारत में शासन सम्बन्धी कार्य करने के लिए अनेक लोकप्रिय एवं जनसंस्थाएं थीं । इस तथ्य को सभी भारतीय आचार्य स्वीकार करते हैं ।[1]इन संस्थाओं का अस्तित्व प्रारम्भिक वैदिककाल में भी था । स्मृति से पूर्वकाल से आर्य जाति अपने सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक प्रश्नों को सभा में तय करते हैं ।[2] जिस प्रकार ग्रीक लोगों में आरकोपैगस था, रोमन लोगों में क्यूरिया थी और एंग्लो – सैक्शन लोगों में वितान थी, उसी प्रकार भारत के आर्यो में सभा एवं समिति थी । सभा के लिए अन्य नाम

1– शुक्रनीति 3/310 तथा मनुस्मृति, 7/199–200

2– मनुस्मृति, 7/199

"जनता" और "परिषद" भी थे । संस्कृत साहित्य में प्राचीन जनप्रिय संस्थाओं के लिए प्रयुक्त महत्वपूर्ण शब्दों, में सभा, समिति, विदथ, परिषद, संग्राम आदि का उल्लेख मिलता है ।[1]प्रायः विद्वान इस बात का समर्थन करते हैं कि वैदिककाल में साधारणतया राजतंत्रीय शासन पद्धति का प्रचलन था । किन्तु राजा के साथ सभा व समिति जैसी लोकप्रिय संस्थाएं तत्कालीन शासन का महत्वपूर्ण अंग थीं ।[2] शामशास्त्री ने लिखा है कि हम यह निश्चित रूप से जानते हैं कि वैदिककालीन शासन के दो महत्वपूर्ण अंग सभा और राजा थे । उन दोनों में सभा राजा से अवश्य ही अधिक महत्वपूर्ण रही होगी । क्योंकि राजा स्पष्टता सभा की दया पर निर्भर करता था । [3] अथर्ववेद में राजा के दैवी अधिकार जैसी कोई बात नहीं दिखाई देती । क्योंकि राजा का राज्य के अध्यक्ष के रूप में, जनता द्वारा निर्वाचन किया जाता था । वे निकाय जो राजा का निर्वाचन करते थे – सभा और समिति कहलाते थे । अथर्ववेद में सभा को वाद–विवाद में जीतने के लिए अनेक जादू–टोने दिये हुए हैं इस प्रकार अथर्ववेद में सार्वजनिक सभाओं को भाषण करने वाले के वैयक्तिक प्रभाव द्वारा जीतने को बहुत महत्व प्रदान किया है । सभा और समिति प्रजापति की दो दुहिताएं बतायी गयी हैं ।[3]इसी पर टिप्पणी करते हुए अलतेकर ने लिखा है कि इससे मालूम होता है कि लोग समझते थे कि ये सनातन ईश्वर निर्मित संस्थाएं हैं । और यह मानते थे कि यदि समाज के आदिकाल से नहीं तो कम से कम राजनीतिक जीवन के प्रादुर्भाव के साथ ये भी अस्तित्व में आयीं ।

सभा एवं समिति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों में मतभेद दिखायी देता है । लेकिन फिर भी यह कहा जा सकता है कि सभा और समिति प्राचीन काल की सबसे अधिक महत्वपूर्ण संस्थाएं थीं । समाज शास्त्री का कहना है कि सभा का दूसरा नाम जनता और परिषद था । सभा समिति और जनता वैदिक शब्द

1– अथर्ववेद, 12/1/56 एवं 15/9
अथर्ववेद, 10/85/26 , 7/28/6
तैत्तरीय ब्राम्हण, 1/1/10/6
शतपक्षब्राम्हण

2– रामदी न पाण्डेय : प्राचीन भारत की संग्रामिकता, पृ1129

3– आर0शामशास्त्री : इमैल्यूशन आफ इण्डियन पोलिटी–पृ0– 89 तथा अथर्ववेद 6/12/9 तथा 7/12/2
अथर्ववेद 7/12, या एन0जे0 सिन्दे : दि रिलीजन एण्ड फिलासौफी आफ दि अथर्ववेद पृ0–75–76
अ0स0 अलतेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ0–115

है । परिषद शब्द साधारणतया सूत्रकाल में प्रयुक्त हुआ है ।[1]वृहस्पति ने पाराशर माधव के व्यवहारकाण्ड में चार प्रकार की सभाओं का उल्लेख किया है ।[2]

(1) गांव या कसबे में अचल सभा

(2) चल सभा, शायद यह विद्वान व्यक्तियों की सभा होती थी, जो स्थान–स्थान पर चलती थी,

(3) अधिकारपत्र प्रापत समिति, जिसका प्रधान अधीक्षक होता था,

(4) आज्ञानुसार सभा, जिसका राजा प्रधान रहता था ।

उसी ग्रन्थ में मृगु ने कुद विशिष्ट जातियों की कम महत्व वाली सभाओं का भी उल्लेख किया है ।3 वैदिककल के अनुसार राज्य की महान सभा के अतिरिक्त प्रत्येक वर्ग की कम महत्वपूर्ण वाली सभाएं भी होती थीं, जो उसके सामाजिक, धार्मिक प्रश्नों पर विचार–विमर्श करती थी । महान सभा के बारे में उल्लेख किया गया है कि ये सभाएं प्रतिष्ठित वर्ग के द्वारा होती थीं जिसका मुख्य राजा होता था । यह सभा सभी राज्य की समस्याओं पर विचार–विमर्श करती थी । अलतेकर के अनुसार उसके समय में दो प्रकार की सभाएं थीं विद्वान व्यक्तियों की सभा और साधारण व्यक्तियों की सभा । [4]

शीन्दे के अनुसार अथर्ववेद में सभा के लिए दूसरा नाम, संसद भी प्रयुक्त किया गया है और उसके सदस्य सभासद कहे गये हैं ।[5]साधारणतया सभा और समिति का उल्लेख साथ–साथ किया गया है ।[6] सम्भवतः समिति उन सभी जनों की सभा थी, जो युद्ध के लिए एकत्रित होते थे । इनके अनुसार एक स्थल पर उनका विस्तृत वर्णन इस प्रकार किया गया है ।[7] व्रात्य विशः की ओर चला, उसके पीछे सभा चली, उसके बाद समिति, उसके बाद सेना ओर उसके बाद सुरा । समिति की इच्छा से राजा जनता पर शासन करता

1– आर0 शामशास्त्री : इमोलूशन आफ इण्डियन पोलिटी, पृ0 89
2– पराशरमाघव : वृहस्पति व्यवहार काण्ड, 2/26
3– ऋगवेद, 5/13/9
4– अ0स0 अलतेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ0– 909
5– एन0जे0शीन्दे : दि रिलिज एण्ड फिलोसोफी आफ अथर्ववेद पृ0– 78
6– एन0जे0 शीन्दे: दि रिलीजन एण्ड फिलोसोफी आफ दि अथर्ववेद पृ0–78
7– वही

था । इस प्रकार युद्ध व शान्ति में समिति राजा को परामर्श देती थी । आधुनिक शब्दावली में समिति का अर्थ संसद या पार्लियामेन्ट होगा, परन्तु समिति वह निकाय था जो राजा के नेतृत्व में सेना निर्मित करती थी जब समिति के युद्ध व शान्ति में परामर्श देने के साधारण काम हो चुके थे तो समिति का स्थान मनोरंजन, जुआ खेलने आदि के लिए प्रयुक्त होता था । यह इसलिए सम्भव प्रतीत होता है कि "द्यूत" शब्द का समिति से सम्बन्ध बताया गया है ।[1]

[2] अलतेकर का मत है कि वैदिक बाड्मंय[3] में तीन प्रकार की सभाएं मिलती है – विदथ, सभा और समिति । इन शब्दों का ठीक अर्थ निश्चित करना कठिन है । सम्भव है कि देश–काल के अनुसार उसके अर्थ में वैदिक युग में भी परिवर्तन हुआ हो । आधुनिक विद्वान भी इस विषय पर एकमत नहीं हैं । लुडविग का मत है कि सभा में पुरोहित, घनिक आदि उच्च वर्ग के लोग सम्मिलित रहते थे । झिमर का अनुमान है कि सभा ग्राम–संस्था थी ओर समिति पूरे "जन" की केन्द्रीय परिषद थी । हिलब्रौन्ड का मत है कि सभा और समिति एक ही थी । सभा उस स्थान का नाम था, जहां लोक एकत्र होते थे और समिति एकत्र समूह को कहते थे । .... फिर भी अधिकतर प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि "सभा" प्रायः ग्राम संस्था थी ओर उसमें सामाजिक व राजनैतिक दोनों विषयों पर विचार किया जाता था । ऋगवेद के अन्तिम मंत्र में समिति का उल्लेख सामाजिक या विद्वतमण्डली के रूप में किया गया जान पड़ता है । ऋगवेद में एक स्थल पर आदर्श राजा के अपनी समिति में जाने का उल्लेख किया गया है ।[4]

उपरोक्त उदाहरणो की विवेचना करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि एक दो स्थानों पर समिति का सामाजिक गोष्ठी के रूप में उल्लेख होने पर भी वह वास्तव में राजनीतिक संस्था और उसका रूप केन्द्रीय शासन की व्यवस्थापिका सभा का सा था । यह संस्था बहुत ही प्रभावशाली थी,

---

1– एन0जे0शीन्दे : दि रिलीजन एण्ड फिलोसोफी आफ दि अथर्ववेद, पृ0– 78
ऋगवेद, 10/34/6
2– अ0स0 अलतेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ0–109
3– वैदिक बाड्मय, 3/9
4– अ0स0अलतेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ0–115–117
ऋगवेद 10/191/2–3

बहुधा इसी के समर्थन पर राजा का भविष्य निर्भर करता था । "समिति" के विरूद्ध हो जाने पर राजा की स्थिति अत्यन्त संकटपूर्ण हो जाती थी । यह स्पष्ट है कि राजा के केन्द्रीय शासन और सेना पर समिति का बहुत अधिक प्रभाव था, वह व्यवहार में इसका उपयोग कैसे होता था और राजा के अधिकारों से इसका सामंजस्य कैसे किया जाता था इसका हमें ज्ञान नहीं ।[1]

ला के अनुसार संस्कृत साहित्य में इस प्रकार की संस्थाओं के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं । उनमें से इनका उल्लेख किया जा सकता है । सभा, समिति, संगति, विदथ, परिषद और इन शब्दों के योग सभापति, सभापाल, सभासद इत्यादि । वैदिक साहित्य में सभा का दो अर्थो में प्रयोग हुआ है । वैदिक भारतीयों की सभा और वह स्थान जहां सभा एकत्र होती थी ।[2]समिति से भी सभा का बोध होता है, जो हिलेब्रांड के अनुसार बहुत सीमा तक सभा ही है, इस अन्तर के साथ कि सभा मुख्यतः उस स्थान का सूचक है, जहां बैठक होती थी । संगति का वही अर्थ दिखाई पड़ता है जो कि समिति का है ।[3]प्रो0 व्लूमफील्ड का मत है कि सभा घरेलू प्रयोजन के लिए प्रयुक्त होती थी और यह राजनीतिक अर्थ में सभा लोकपात्र भी न थी । यह मत सभी मान्यता प्राप्त लेखकों ने अस्वीकार कर दिया है । डा0घोषाल ने सभा का भी कार्य मननात्मक बताया है । अतः सभा समिति के ही समानान्तर संस्था थी । सेलेटोर इस विषय पर विभिन्न लेखकों के मत देने के बाद स्वयं इस निष्कर्ष पर पहुंचे – जहां तक सभा और समिति का सम्बन्ध है, हम डा0 काणे के इस न्यायसंगत कथन से सहमत हैं – यह कहना असम्भव है कि वैदिककाल में सभा या समिति का संविधान क्या था, हम केवल यह कह सकते हैं कि यह जनता की एक सभा थी, जिसमें राजा विद्वान और अन्य व्यक्ति जाते थे ।[4]

1– अ0स0अलतेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ0–115–17
ऋगवेद, 15/9
2– ऋगवेद, 7/28/6
3– एन0एन0 ला : आस्पैक्ट्स आफ एंसियेन्ट इण्डिया पोलिटी, पृ0–24
4– बी0ए0सेलेटोर : एंसियेन्ट इण्डियन पोलिटीकल थाट एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स पृ0– 295–406

अधिकांश विद्वानों ने यह माना है कि सभा ओर समिति दो भिन्न राजनैतिक संस्थायें थीं ।[1] यद्यपि उनकी रचना और कार्यो के विषय में कोई स्पष्ट और निश्चित मत प्रकट नहीं किया जा सकता । यह तथ्य कि ये विभिन्न संस्थायें थी, इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि अथर्ववेद में एक स्थल पर उन्हें प्रजापति की दुहिताएं कहा गया है । (सभा व समितिश्चवतां प्रजापते दुंहितारौ संविदाने)[2] । बन्धोपाध्याय ने अथर्ववेद से अनेक उदाहरण देकर इस बात को सिद्ध किया है ।[3] इसी मत का समर्थन डा0 जायसवाल[4] और अलतेकर [5] ने भी किया है । अलतेकर ने लिखा है कि हिलेब्रांड का यह मत भी ठीक नहीं है कि सभा कोई अलग संस्था नहीं वरन् समिति के अधिवेशन स्थल ही का नाम था । क्योंकि ऊपर वर्णित अथर्ववेद का उद्धरण में सभा और समिति दो बहने अर्थात दो अलग संस्थाएं कही गयी हैं ।

इसी विषय पर श्री विमलचन्द्र पाण्डेय ने लिखा है कि अथर्ववेद में एक स्थान पर सबसे पहले सभा का, फिर समिति का और उसके बाद को मंत्रणा (परिषद) का उल्लेख हुआ है । यह क्रम देश के वैधानिक विकास की ओर संकेत करता है । विकास की प्रारम्भिक स्थिति में प्रत्येक ग्राम प्रायः स्वतंत्ररूप से अपना पृथक–पृथक प्रबन्ध करता था । सर्वसाधारण विषयों को तय करने के लिए ग्राम निवासियों ने अपनी–अपनी एक प्रबन्धकारिणी संस्था बना ली थी जो "सभा" के नाम से प्रख्यात हुई ।[6] कालान्तर में जब राज्यों की स्थापना हुई और प्रत्येक राजा के अन्तर्गत अनेक ग्राम आ गये तो सार्वजनिक विषयों की देखभाल करने के लिए एक केन्द्रीय प्रशासनिक संस्था की स्थापना हुई । जो "समिति" कहलायी । इस समिति के अधिवेशन समय–समय पर हुआ करते थे । परन्तु राजा को अपने दैनिक प्रशासन में बहुधा परामर्श की आवश्यकता पड़ती थी । इसके लिए प्रतिक्षण समिति के अधिवेशन नहीं बुलाये जा सकते थे । अतः राजा ने दैनिक परामर्श के लिए कुछ मंत्रियों की नियुक्ति कर ली थी । यह मंत्री मंण्डल तथा मंत्रिपरिषद छोटा होता था और राजा किसी समय भी प्रशासन सम्बन्धी विषय पर इसकी सम्मति ले सकता था । अथर्ववेद के उपर्युक्त ग्रन्थ में कदाचित इसी क्रमिक वैधानिक विकास का संकेत किया गया है ।[7]

1– ऋगवेद, 7/28/6   2– अथर्ववेद, 15/9
3– एन0सी0बन्धोपाध्याय : डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू पौलिटी एण्ड पोलीटिकल थ्योरीज, पृ0– 109
4– के0पी0जायसवाल : हिन्दू पोलिटी, पृ0–12 एवं 17
5– पुर्वोद्धत, पृ0– 101
6– विमलचन्द्र पाण्डेय – प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास पृ0– 108
7– तैत्तिरीयब्राम्हण, 1/1/10, शतपथब्राम्हण, 5/3/1/10 ऋगवेद 8/4/9

समिति ::–

वेदों के अध्ययन से पता चलता है कि हमारे पूर्वजों का राष्ट्रीय जीवन और उनकी गतिविधियां जन–संस्थाओं द्वारा अभिव्यक्त की जाती थी । इन संस्थाओं में सबसे प्राचीनतम संस्था "समिति" मानी जाती है । समिति, समा–इति का अर्थ है, एकत्र होना अर्थात सभा (एसेम्बली) । समिति सम्पूर्ण जनता (विशः) की राष्ट्रीय सभा थी, क्योंकि हमें समिति या सम्पूर्ण जनता एक दूसरे के विकल्प रूप में राजा का निर्वाचन और पुर्ननिर्वाचन करते मिलते है । समिति में सभी जनता को उपस्थित माना जाता था ।[1]

वैदिक साहित्य में निःसन्देह समिति निश्चित रूप से एक सामुदायिक संस्था थी । यह निश्चित रूप में जन–सभा रही होगी जिसके ऊपर राजा प्रधान रहता था ।[2] इसकी रचना और कार्यो को देखकर यह कहा जा सकता है कि यह सभा से निश्चित रूप में भिन्न थी । बन्धोपाध्याय ने लिखा है कि समिति के कई नाम थे, इसे संगति ओर संग्राम भी कहते हैं । समिति शब्द इ धातु से निकला हुआ है जिसका अर्थ है, आना या जाना, इसके पूर्व सम लगा है जो एकत्र होने के कार्य पर बल देता है ।[3] समिति शब्द ऋगवेद तथा अथर्ववेद में अनेक बार आया है लेकिन कहीं–कहीं पर इसका अर्थ स्पष्ट नजर आया है । एक स्थल पर यह कहा गया है कि राजा समिति में आता है, दूसरे स्थल पर एक विजयी राजा कहता है – मैं सर्वोपरि हूं, ए शत्रुओं में सब प्रकार के कार्य कर सकने वाली शक्ति के साथ आया हूं मैं तुम्हारे मनों को जीतूंगा, तुम्हारे व्रत्य (कार्यो) को और समिति को भी ।[4]

राजा समिति में उपस्थित रहता था । और यह आवश्यक समझा जाता था कि वह समिति में उपस्थित रहे । ऋगवेद में कहा गया है कि सच्चे राजा की तरह (वह) समिति में जाता है ।[5] डा0 जायसवाल का कथन है कि समिति में राजा के उपस्थित होने की प्रथा तभी तक जारी रही जबतक समिति

1– ऋगवेद, 8/4/9 2– वां0सं0, 16/24
3– एन0सी0बन्धोपाध्याय : डेवलपमेन्ट आफ पोलिटी एण्ड पोलिटिकल थयोरीज, पृ0–111
4– ऋगवेद, 7/6/3–5
5– वही, 10/166/5

का अस्तित्व बना रहा । छान्दोग्य उपनिषद में जो सबसे बाद का वैदिक ग्रंथ है, श्वेतकेतु गौतम के समिति में जाने का वर्णन है । समिति के महत्व का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि अथर्ववेद और ऋगवेद दोनों में ही इस प्रकार की प्रार्थना मिलती है कि राज्य की नीति समान हो और समिति समान हो, इतना ही नहीं समान उद्देश्य हो ओर समान मन भी । इससे संकेत मिलता है कि समिति में राज्य सम्बन्धी मामलों पर विचार होता था । समिति का सबसे महत्वपूर्ण कार्य राजा का निर्वाचन तथा निष्कासित राजा का पुनर्निवाचन करना था । इस प्रकार सम्वैधानिक दृष्टि से समिति एक प्रभुत्वपूर्ण निकाय थी । समिति में अराजनीतिक विषयों पर भी विचार होता था, यह एक प्रकार की राष्ट्रीय एकादमी थी ।[1]

समिति के कार्य तथा स्वरूप के बारे में बन्धोपाध्याय का कथन है कि अथर्ववेद के एक प्रार्थना गीत में जहां सभा ओर समिति को प्रजापति की दुहिताएं कहा गया है, यह वर्णन भी है कि सभा व समिति दोनों मननात्मक निकाय थे, जिनमें अनेक व्यक्ति अपने मतों को अभिव्यक्त करते थे और उनके मतों का समुदाय पर भारी प्रभाव पड़ता था । अथर्ववेद में एक स्थल पर वर्णन है कि अभिषेक के बाद पुरोहित कहता था कि राजा अपने सिंहासन पर स्थापित हो और समिति उसके प्रति वफादार रहे । इस प्रकार समिति जनता की सभा थी और उससे सामंजस्य राजा के लिये महत्वपूर्ण था । इस सम्बन्ध में दिये गये विभिन्न उद्धरणों व प्रमाणों पर विचार करने के बाद बन्धोपाध्याय ने ये निष्कर्ष निकाले हैं कि –

(1) समिति समुदाय के सम्पूर्ण जन का एकत्र समूह था,

(2) यह राष्ट्र की सभा थी,

(3) इसका राजा से निकट सम्बन्ध था ओर इसका अधिवेशन प्रायः सभी महत्वपूर्ण अवसरों पर होता था जैसे राजा के अभिषेक, युद्धकाल अथवा राष्ट्रीय संकटकाल में । सम्भवतया समिति को राजा का निर्वाचन करने और उसे स्वीकार करने या उसके कार्यो पर स्वीकृति प्रदान

1– समानोमंत्रा : समितिः समानी समानं मनः सह चितंमेशाम् ।।
– के0पी0 जायसवाल : हिन्दू पोलिटी पृ0–12–14

करने के लिए आहूत किया जाता था । इन्होने इस बात पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है कि समिति का युद्ध अथवा संग्राम से विशेष सम्बन्ध था । समिति शब्द अनेक बार संग्राम के साथ प्रयुक्त हुआ है । संग्राम का मूल अर्थ (ग्राम का)एकत्र होना था, किन्तु श्रेष्ठ साहित्य में इसका अर्थ युद्ध रहा । अतः समिति का मूल अर्थ जन में सदस्यों का संग्राम (युद्ध) के लिए सैनिक रचना में एकत्र होना है । इस प्रकार के समान उदाहरण यूरोप की प्राचीन जातियों में भी मिलता है । [1]

समिति की रचना के विषय में विद्वानों के मतों का विश्लेषण करते हुए यह कहा जा सकता है कि सभी व्यक्तियों को समिति में उपस्थित समझा जाता था । परन्तु जब समिति में दार्शनिक तथा गैर राजनीतिक प्रश्नों पर विचार होता होगा जैसा कि श्वेतकेत के सम्बन्ध में उल्लेख है तो यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि उसमें सभी व्यक्ति बिना किसी प्रकार के प्रतिनिधित्व के उपस्थित होते होंगे । जैसा कि विदित है, वैदिककाल में प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को लोग अच्छा समझते थे और कार्यरूप भी देते थे । अभिषेक संस्कार पर ग्रामणी प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित होता था और व्यापारिक संघों के प्रतिनिधित्व भी उस समय उपस्थित रहते थे । ग्राम के सामूहिक रूप से वैदिककालीन व्यक्ति परिचित थे । समिति सरकारी संस्था थी या गैर सरकारी, यदि गैर सरकारी थी तो निर्वाचित थी या नहीं । यदि निर्वाचित थी तो निर्वाचक एक विशेष वर्ग था या साधारण जनता, निर्वाचन समस्त जीवन भर के लिए था य कुछ वर्षों के लिए, इन सब प्रश्नों का समुचित उत्तर देने के लिए हमारे पास कुछ भी साधन नहीं है । चूंकि गणतंत्रों की समितियां उच्च वर्ग की संस्थाएं थी, अतः सम्भव है कि राजतंत्र की समिति भी उसी प्रकार की रही हो । वैदिककाल के राज्य ग्रीस के नगर राज्यों की भांति छोटे–छोटे होते थे । अतः सम्भव है कि समाज में प्रमुख स्थान रखने वाले योद्धा या प्रतिष्ठित परिवारों के गृहपति ही समिति के सदस्य रहे हों । उस युग में पुरोहित का कार्य युद्धक्षेत्र में भी महत्व रखता था । अतः समिति इनके प्रतिनिधि रूप में और कोई नहीं तो राजा के पुरोहित अवश्य ही रहे होंगे ।

1– एन0सी0 बन्धोपाध्याय :डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू पोलिटी एण्ड पोलिटिकल थयोरीज, पृ0– 117–19

परिषद :::–

परिषद का उल्लेख प्राचीन वैदिक साहित्य में मिलता है । डा0 शर्मा के अनुसार प्राचीन वैदिक साहित्य में जो परिषद के उल्लेख हैं, उनसे इसके जनात्मक स्वरूप के बारे में कोई बात प्रत्यक्ष नहीं मिलती । किन्तु शतपथब्राम्हण में बहुधा उद्यृत वर्णन और बाद के साहित्य में पंचालों की परिषद से सम्बंधित वर्णन यह दिखाते हैं कि परिषद जन की कुल सभा होती थी । जिसका अध्यक्ष राजा रहता था । पुराणों और महाकाव्यों में किये गये उल्लेखों से इसके जनात्मक स्वरूप के अतिरिक्त सैनिक स्वरूप का भी पता लगता है । [1]

परिषद का अर्थ है, बैठना अथवा चारों ओर बैठना तथा वे जो सभा में बोलते हैं (परितः सीदन्ति इति परिषद) । "परिषद" शब्द ऋगवेद संहिता में मिलता है । उत्तरवैदिककाल में परिषद शब्द का प्रयोग विभिन्न अंगों में हुआ । यह मुख्यतः विज्ञान परिषद और शाही सभा (दरबार) रही । शाही सभा के रूप में इसके राजनैतिक कार्यो का सम्बन्ध केवल न्यायिक मामलों में रहा । परम्परागत मामलों के अनुसार परिषद का अर्थ ऐसे विद्वानों की सभा से था जो कि कानूनी बातों और देशों की प्रथाओं पर निर्णय देते थे । पाणिनी ने परिषद शब्द का तीन अर्थो में प्रयोग किया है – पहला, विशुद्धताः विद्वानों (अथवा विशेषज्ञों) की सभा जैसे चरण परिषद, दूसरा– सामाजिक सांस्कृतिक ढंग की साधारण सभा और तीसरा– राजा की परिषद अर्थात मंत्रिपरिषद जिसकी सहायता से राजा शासन करता था । कौटिल्य ने भी परिषद शब्द का प्रयोग मंत्रिपरिषद के सम्बन्ध में किया है । ला ने लिखा है कि स्मृतियों तथा बाद के संस्कृत साहित्य में परिषद शब्द का बहुधा न्यायिक सभा के अर्थ में प्रयोग हुआ है । महाकाव्यों में कभी–कभी सभा के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुआ है । [2]

1– आर0एस0शर्मा : आस्पैक्टस आफ पोलीटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीटयूशन्स इन एंशियेन्ट इण्डिया पृ0– 94–97

2– एन0एन0ला : आस्पैक्टस आफ एंसियेन्ट इण्डियन पोलिटी, पृ0– 26 तथा अर्थशास्त्र, 1/14/ अनुस्मृति, 7/184 राजतरंगिणी, 1/16

कुछ विद्वान कहते हैं कि वैदिककालीन समिति अथवा राष्ट्रीय परिषद से उत्तरवैदिककाल में परिषद पृथक हो गयी ।[1]

परिषद के आकार और स्वरूप के सम्बन्ध में डा0 शर्मा का विचार यह है कि प्राचीन परिषद का आकार काफी बड़ा होता था । कौटिल्य के अर्थशास्त्र और रामायण में बड़ी (1000 सदस्यों वाली) परिषद की परम्परा जारी रही । उत्तरवैदिककाल में विशेषरूप से मंत्रिपरिषद तथा साधारण परिषद में कोई स्त्री सदस्या नहीं रही । ऐसा लगता है कि प्राचीन परिषद जन की सैनिक सभा थी और इसका राजा व ब्राम्हणों से कोई सम्बन्ध नहीं था । परन्तु बाद के वैदिक काल के अन्त से पूर्व वर्ण व्यवस्था के विकास और राज्य शक्ति में वृद्धि के कारण परिषद अंशतः विद्वानो की सभा और अंशतः राजा की सभा में परिणित हो गयी । इस तथय का कि परिषद राजा की सभा के रूप में कार्य करती थी और इसके सदस्यों का राजा पर भारी प्रभाव था, पाणिनी के व्याकरण से भी पता चलता है, क्योंकि उसमें राजा को परिषद बल कहा गया है । [2]

प्राचीन ब्राम्हण ग्रन्थों में परिषद का स्वरूप कानूनी विशेषज्ञों के निकाय का हो गया । धर्मसूत्रों में वर्णित परिषद एक ऐसी संस्था थी जिसके सदस्यों का झुकाव शिक्षण की अपेक्षा कानून की ओर अधिक था । धर्मसूत्रों से इसकी रचना के विषय में यही पता लगता है कि यह पुरोहितों की परिषद थी । कालान्तर में क्रमशः इसका आकार छोटा होता चला गया । सम्भव है कि प्राचीनकाल की सबसे बड़े आकार वाली परिषद और बाद की छोटे आकार वाली परिषद के मध्यमकाल में मध्यम आकार की परिषद भी रही हो । कुछ भी हो कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित मंत्री परिषद् अथवा ब्राम्हणों की कानूनी परिषद, मूलतः प्राचीनकाल की परिषद से भिन्न थी, जिसका सभा व समिति की भांति कोई सम्वैधानिक अथवा राजनीतिक महत्व न था ।

1– जायसवाल, : हिन्दू पोलिटी, पृ0–16
2– आर0एस0शर्मा : आस्पैक्ट्स आफ पोलीटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीटयूशन्स इन एंसियेन्ट इण्डिया – पृ0–81–83
3– कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1/14

डा0 जायसवाल के अनुसार समिति और सभा वैदिक युग के विकसित काल खण्ड की उपज थी, न कि प्रारम्भिककाल खण्ड की । समिति में वाद–विवाद का विकसित रूप, वाद–विवाद का निर्बन्ध अधिकार, वाद–विवाद में भाग लेने वाले का यह प्रयत्न की वह दूसरों के मत को अपनी ोर कर ले आदि बातें यह सिद्ध करती हैं कि उस काल के लोगों की संस्कृति उच्च स्तर की थी । जर्मन जाति की जन–सभा में कोई सामन्त बोलता था और अन्य साधारण सदस्य उस पर बिना बोले ही अपनी स्वीकृति प्रदान करते थे । उनहोने वाद–विवाद के विकसित रूप का पता न था । अतः समिति की पाश्चात्य यूरोप की जन–संस्थाओं से तुलना करना ठीक नहीं है । समिति के विकसित रूप का इससे भी संकेत मिलता है कि समिति और सभा के अपने अध्यक्ष सभापति होते थे । [1]

विभिन्न संस्थाओं के कार्यो के बारे में कोई निश्चित लिखित प्रमाण नहीं है, किन्तु इनके कार्य भिन्न–भिन्न और अति महत्वपूर्ण थे । समिति एक राष्ट्रीय सभा अथवा संसद के रूप में सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करती थी, यही राजा का निर्वाचन और आवश्यकता पड़ने पर पुर्ननिर्वाचन भी करती थी । इसमें गैर राजनीतिक प्रश्नों पर भी विचार होता था और राजा स्वयं इसकी बैठकों में उपस्थित रहता था । सभा मुख्यतः न्यायिक कार्य करती थी, विदथ धार्मिक और परिषद कानूनी । डा0 शामशास्त्री ने समिि के कार्यो के विषय में लिखा है कि समिति, जिसका राजा प्रधान होता था, सभी प्रश्नों पर अंतिम सत्ताधारी प्रतीत होती थी । इसमें अनेक विषयों पर विचार (वाद–विवाद) होता था, यथा राजा का निर्वाचन, युद्धशान्ति, भूमि सम्बन्धी विवाद, उत्तराधिकारी कर, मनुष्यों व पशुओं की रक्षा, युद्ध में प्राप्त लूट के सामान का वितरण, मुद्रा, व्यापार, अपराध इत्यादि । [2]

1– के0पी0 जायसवाल, : हिन्दू पोलिटी, पृ0– 14–15

2– आर0 शामशास्त्री : इमालोशन आफ इण्डियन पोलिटी, पृ0– 76–86

युद्ध तथा प्रतिरक्षा सम्बन्धी विषयों पर विचार :::–

प्राचीन भारतीय आचार्यों के विषय में कहा जाता है कि वे शान्तिप्रिय थे न कि युद्धप्रिय । क्योंकि वे इस बात को मानते थे कि प्रजा और राष्ट्र की समृद्धि के लिए युद्ध की अपेक्षा शान्ति अवश्यक है । लेकिन किसी विकल्प की अनुपस्थिति में वे युद्ध में संलग्न होने की अनुमति देते थे, क्योंकि राष्ट्रीय हितों का संरक्षण एवं संवर्द्धन उन्हें शान्ति की अपेक्षा अधिक प्रिय था, अतः वे ऐसे समय में अपने राष्ट्र को सदैव युद्धार्थ तैयार रखते थे । वे अपने राष्ट्रीय स्वतंत्रता की रक्षा के लिए सब कुछ बलिदान कर सकते थे । क्योंकि वे कहते थे कि पराधीनता से बड़ा दुःख इस संसार में और कोई नहीं है ।[1] यहीं पर मनु कहता है कि अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता की रक्षा पहले तीनों नीतियों का प्रयोग करके उद्द्देश्य प्राप्ति की तरफ बढ़ना चाहिये । जब साम, दाम और भेद असफल दिखाई दे तब युद्ध के लिए तैयारी करनी चाहिए । लेकिन उद्द्देश्य यह हे कि युद्ध अपने पक्ष में आ जाये । जब यह विश्वास हो जाय कि युद्ध में विजय अपनी होगी तभी युद्ध के लिए प्रस्थान किया जाये, अन्यथा सुरक्षात्मक कार्यवाही को अपनाया जाये ।[2]

प्राचीन काल में युद्ध और प्रतिरक्षा सम्बन्धी विषयों पर आज की ही भांति युद्ध मंत्री लेता था । अपने विचारों को वह तत्काल युद्ध समिति को भेजता था । शान्तिपर्व में यह उल्लेख है कि समिति का प्रधान राजा होता था और उसके साथ तीन सैन्य विशेषज्ञ भी होते थे ।[3]

1– शुक्रनीति, 3/310

2– मनुस्मृति, 7/200

3– शान्तिपर्व, 83/47

शान्तिपर्व में यह भी उल्लेख है कि वे वीर योद्धा, राष्ट्रनिष्ठ, नीतिज्ञ एवं विद्वान होने चाहिये । कौटिल्य का विचार है कि युद्ध सम्बन्धी विचार करने के लिए कम से कम तीन मंत्रियों की संख्या होनी चाहिये ।[1]रामायण के युद्धकाल में यह उल्लिखित है कि रावण, हनुमान के आतक से आतंकित होकर विचार–विमर्श के लिए सलाहकार समिति की बैठक, क्योंकि विद्वान लोग विचार को ही सफलता की कुंजी मानते थे ।[2] विचार–विमार्श को श्रेणी में बांटते हुए रावण ने युद्धकाण्ड में यह कहा है कि जो मुनष्य हितैषी और सलाह देने की योग्यता रखने वाले अपनी तरह सुख–दुख भोगने वाले भाई–बन्धुओं तथा मित्रों और अपने से अधिक योग्य व्यक्तियों के साथ परामर्श का कार्य प्रारम्भ करता है तथा देवबल को प्राप्त करने का प्रयास करता है, वह उत्तम पुरूष कहलाता है तथा जो मनुष्य गुण–दोष को भलीभांति बिना और धर्म का सहारा त्याग कर स्वयं कार्य करने का विचार करता है, वह मनुष्य अधम कहलाता है । मध्यम पुरूष वह है जो आत्मचिन्तन करके धर्मानुकूल काम करता है ।[3]इसी आधार पर रावण कहता है कि मंत्रणा भी उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार की होती है । शास्त्रानुसार जब सारे मंत्री एकमत होकर सलाह देते हैं तो वह सलाह उत्तम होती है ।[4] उसने अपने मंत्रियों से निवेदन किया कि आप लोग तुरन्त सलाह करके दिशानिर्देश दें क्योंकि उसे शीघ्रातिशीघ्र मैं क्रियान्वित कर सकूं ।[5]अनुरोध के अनुसार मंत्रियों ने अपनी–अपनी सलाह प्रेषित की, जिसमें कुछ ने कहा कि योजनानुसार राम पर चढ़ाई की जाये क्योंकि विजय अपने पक्ष में होगा । यही पर विभीषण ने कहा कि ससम्मान सीता को वापस राम के पास पहुंचा दिया जाये क्योंकि इसी में हम सभी की भलाई है । इधर राम भी रावण की ही भांति संग्राम याजना तैयार कर रहे थे और विचार–विमर्श

1– अर्थशास्त्र, 1/14
2– युद्धकाण्ड, 6/5
3– वही, 6/6 से 6×11
4– वही, 6/12
5– वही, 6/16

के बाद अपने सैन्य फैलाव की योजना तैयार की ।[1]

कौटिल्य का विचार है कि राजा को युद्ध सम्बन्धी विचार अलग–अलग मंत्रियों से लेना चाहिए, उन्होने आगे यह भी कहा कि समयानुसार एक साथ भी मंत्रणा ले सकता है । आचार्य शुक्र ने लिखा है यद मंत्रिपरिषद के सदस्यों का मत एकरूपता न दिखाई देती हो तो राजा को चाहिए कि वह बहुमत पक्ष की नीति को क्रियान्वित करे ।[2] कामन्दक का कहना है कि मंत्रियों की मंत्रणा पर राजा का विचार करना अति आवश्यक है । मंत्रीगण न केवल मित्र होते हैं बल्कि राजा के गुरू भी होते हैं ।[3] मनुस्मृति में इसी सम्बध पर यह विचार दिया गया है कि शान्ति एवं युद्ध के सम्बन्ध मे राजा को षड्गुण चिन्तन अपने मंत्रियों के साथ अलग–अलग तथा सम्मिलित रूप में करना चाहिये[4]

निष्कर्ष तौर पर यह कहा जा सकता है कि मंत्रिपरिषद में भाग लेने वाले तीनों सदस्यों में प्रधानमंत्री, युद्धमंत्री और विदेश मंत्री रहते थे । ये लोग युद्धपरिषद में राजा द्वारा बुलायी गयी संगोष्ठी में भाग लेते थे । कहीं कहीं पर प्राचीन आचार्यो ने परिषद के वृहद भाग में सदस्यों के चिन्तन के बारे में उल्लेख किया है । सभापर्व में यह उल्लिखित है कि राजा के अठारह तीर्थों के अध्यक्षों को युद्ध का निर्णय लेने से पहले विश्वास में लेना चाहिए । राजतरंगिणी का मत है कि राज्य के सात प्रधान अंगों के अध्यक्षों – धर्माध्यक्ष, बलाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, चरपति, दूत, पुरोधा एवं देवज्ञ के साथ विचार–विमर्श करना चाहिये ।[5] देवी भागवत में संग्राम समिति का स्पष्ट विवरण है । इस समिति में यम, वायु, वरूण, कुबेर आदि देव उपस्थित थे, इन्द्र ने समिति के सामने यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि दानवों से संधि की जाय या उनसे संग्राम ठाना जाये ।[6]

1– युद्धकाण्ड, 37 एवं 38
2– शुक्रनीति, 2/81/
3– कामन्दकीयनीतिसार, 4/41–44
4– मनुस्मृति, 7/57 एवं 58
5– राजतरंगिणी, 1/16/
6– देवीभागवत, 5

प्राचीन भारतीय आचार्यों का मत है कि युद्ध परिषद में निम्नलिखित बातों में विचार किया जा सकता है ::–

(1) देश, काल के अनुसार यौद्धिक कार्यवाही करना या न करना । इसका निर्णय सुरक्षा को आधार मानकर करना ।[1]

(2) कार्य की योजना निर्धारित करना ।[2]

(3) प्रजा के मनोबल के अनुसार यौद्धिक कार्यवाही करना ।

(4) एक सेननायक की मृत्यु के बाद, उस स्थान की पूर्ति तुरन्त दूसरे सेननायक द्वारा करना ।[3]

(5) न्याय–अन्याय और धर्म–अधर्म संगत घटनाओं पर विचार करना ।[4]

(6) युद्ध की व्यूह रचना पर विचार करना ।

(7) दुर्गों तथा राज्य की रक्षा के लिए सैन्य टुकड़ियों को नियुक्त करना तथा उन्हें निर्देश देना ।[5]

(8) षडगुणों उपायों पर चिन्तन करना और नीति निश्चित करना ।

(9) सेना के लिए आवश्यक साज–सामान एवं साधनों को जुटाना ।[6]

(10) सेना के मनोबल में वृद्धि हेतु विचार–विमर्श करना ।

(11) शत्रु की शक्ति क्षीणता हेतु अच्छी नीति निर्धारण करना ।

1– अर्थशास्त्र, 1/14
2– वही
3– कर्णपर्व, 76
4– द्रोणपर्व 157–58
5– मनुस्मृति, 7/184
6– वही, 7/158

इस तरह देखा जाता है कि प्राचीन भारत मे युद्ध समिति महत्वपूर्ण कार्यो को सम्पादित करती थी और इसमें राष्ट्रनिष्ठ सैन्य विशेषज्ञों को आवश्यक रूप से रखा जाता था क्योंकि वे मानते थे कि मंत्र विजय का मूल है । अतः सभी प्राचीन विचारक इस बात पर एक मत रहे हैं कि युद्ध सम्बन्धी कार्यो का प्रारम्भ नीतिसंगत विचार–विमर्श के आधार पर ही किया जाये ।[1] इसी प्रकार की व्यवसथा रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, शुक्रनीति आदि सभी प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है । कौटिल्य ने मंत्र के महत्व के बारे में लिखा है कि मंत्रणा को जाति गुप्त ढंग से करना और रखना चाहिए । मंत्रणा के विषय में तैयार योजना का आधार उसी वक्त हर सदस्यों को पता चलना चाहिए, जब उसे क्रियान्वित करने के लिए कहा जाय ।[2] कौटिल्य ने कहा है कि एक छोड़ा गया तीर किसी को मार सकता है अथवा चुक भी सकता है परन्तु विद्वानों द्वारा निर्धारित की गयी योजना उनको भी नष्ट कर सकती हे जिनका अभी बीजारोपण मात्र हुआ है ।[3] ऐसे में कौटिल्य का मत है कि मंत्रण अति गुप्त स्थान पर की जानी चाहिए । जहां से स्वर भी बाहर न जा सके । इस सम्बन्ध में मनु ने लिखा है कि समिति की बैठक के समय गूंगे, बहरे व्यक्तियों और पक्षियों तथा विशेषकर स्त्रियों अर्थात अनावश्यक सभी जीव जन्तुओं को अलग हटा देना चाहिये ।[4] मनु का मत है कि रात्रि के अन्तिम पहर में किसी एकान्त में राजा को युद्ध सम्बन्धी परामर्श अपने सहायकों के साथ करना चाहिये ।[5]

यह परिषद युद्ध प्रारम्भ हो जाने के पश्चात युद्ध क्षेत्र में भी विभिन्न सामरिक स्थितियों पर विचार करती थी और अपने प्रधान नायक की सैन्य योजनाओं तथा सैन्य संचालन में परामर्श देती थी । युद्ध समिति का स्थान प्राचीन भारत में महत्वपूर्ण रहा था । प्राचीन भारत की युद्ध समिति आधुनिक मंत्रिपरिषद की तरह कार्य कर रही थी ।

1– अर्थशास्त्र, 1/14
2– वही
3– वही, 10/6
4– मनुस्मृति, 7/149–50
5– मनुस्मृति, 7/150

(ग) मुख्य सैन्य कार्यालय :::–

चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य सैनिक युग में था । नन्दों को नष्ट करने और यूनानियों के निष्कासन हेतु उसने अपने साम्राज्य में एक विशाल सेन्य संगठन का निर्माण किया था । अपनी योजनाओं के संचालन एवं क्रियान्वयन हेतु उसने सैन्य विभागों को निर्मित किया था । यह विभाग सेना के महत्वपूर्ण अंग होते थे क्योंकि योजना एवं रणनीति निर्धारण के बाद उसे क्रियान्वित करने वाला द्वितीय विभाग युद्ध संचालन विभाग ही होता था । यह विभाग विभिन्न प्रकार के सैन्यबलों से सम्बन्ध रखता था । इसका कार्य सैनिकों के चुनाव, उनकी नियुक्ति, प्रशिक्षण एवं अनुशासन आदि से परिपूर्ण करना था । चतुरंग बल से सम्बन्धित चारों प्रकार की सेना में अश्वों का सही ढंग से चुनाव एवं प्रशिक्षण का कार्य युद्ध विभाग ही देखता था । इसी प्रकार गज एवं रथ का भी उत्तरदायित्व सैन्य मुख्य कार्यालय पर होता था । इसके अतिरिक्त सहायक सैन्यबलों का संगठन एवं नियंत्रण भी इसी के अन्तर्गत होता था । इन सभी कार्यो के लिए इस विभाग में कई उप विभाग भी होते थे जो इस प्रकार के सैन्य कार्यहितों पर ध्यान देते थे । इन्हीं उप विभागों के द्वारा सम्बन्धित सैनिकों को प्रशिक्षित एवं संगठित किया जाता था । प्रशिक्षण के माध्यम से विभिन्न आवश्यक सैन्य सामाग्रियों को एकत्रित किया जाता था । मैगस्थनीज ने मौर्यकाल में छः उप विभागों के बारे में वर्णन किया है । प्रत्येक उप विभाग में पांच प्रमुख पदाधिकारियों की एक समिति होती थी । इस समिति के निर्णयानुसार विभाग के सभी कार्य किये जाते थे । ये उप विभाग निम्नलिखित हैं :–[1]

(1) प्रथम उप–विभाग ::–

यह विभाग नौ सेना से सम्बन्धित होता था । इसमें नौकाओं का निर्माण कार्य एवं यातायात सम्बन्धी सभ‍‍ कार्य देखे जाते थे । [2]

1– एसियेन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मैगस्थनीज एण्ड एरियन, पृ0– 88 मैक्रृण्डल ।
2– अर्थशास्त्र, 2/28

इस विभाग का अध्यक्ष "नावाध्यक्ष" कहलाता था । वैसे इसे सैन्य विभाग तो नहीं माना जाता है लेकिन यह सैनिक कार्यवाहियों में सहायता करता था । दिक्षितार ने इस विभाग का नाम सैन्य सैन्य अधिकारी विभाग दिया है । [1]

(2) द्वितीय उप–विभाग :::–

यह विभाग सहचर विभाग कहलाता था । यह सैन्य यातायात और आवश्यक युद्ध वस्तुओं का विभाग भी कहा जाता था । इसके अन्तर्गत आवागमन के साधनों एवं वाहनों, सामान ढोने वाले वर्गों (विशिष्ट वर्ग) का, इंजीनियर, युद्ध में वाद्ययंत्रों एवं बजाने वालों का तथा चिकित्सा सम्बन्धी कार्य देखे जाते थे । दिक्षितार ने इस विभाग को असैनिक अधिकारियों का सैन्य विभाग कहा है जिसमें अर्थशास्त्र में वर्णित अधिकायियों के अतिरिक्त पुरोहित, ज्योतिषी आदि भी सम्मिलित किये जाते थे ।[2]

(3) तृतीय उप विभाग :::–

यह विभाग पदाति सेना से सम्बन्ध रखता था । इसका अध्यक्ष पत्याध्यक्ष कहलाता था । यह विभाग पैदल सैनिकों की भर्ती, तथा सैनिकों को आवश्यक युद्ध शिक्षा एवं अस्त्र–शस्त्र का ज्ञान कराता था । यह विभाग पैदल सेना के संगठन का उत्तरदायित्व रखता था ।[3]

(4) चतुर्थ उपविभाग ::–

यह विभाग अश्व सेना से सम्बन्धित होती थी । इस विभाग के अध्यक्ष को अश्वाध्यक्ष कहा जाता था । यह विभाग सेना में भर्ती हेतु उपर्युक्त घोड़ों का चुनाव करना, उन्हें सही ढंग से प्रशिक्षित करना, घोड़ों की देखभाल करना आदि का उत्तरदायित्व रखता था । यह विभाग अश्व सेना द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले सभी साज, सामानों का प्रबन्ध भी करता था ।[4]

1– दिक्षितार : वार इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 222–23
2– वही, 223–35
3– प्रो0 चन्द्र : कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ0 85
4– अर्थशास्त्र, 2/3

(5) **पंचम उप–विभाग :::–**

यह विभाग रथ सेना से सम्बन्धित होता था । इस विभाग का अध्यक्ष रथाध्यक्ष कहलाता था । यह विभाग सेना द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले रथों का निर्माण करवाता था । सैनिकों को रथों के पास प्रशिक्षित करवाने का कार्य यह विभाग देखता था । रथ युद्ध की शिक्षा के साथ ही उसके लिए उपयोग, साज–सामान की व्यवस्था भी इसी विभाग द्वारा कराया जाता था । इस तरह यह विभाग रथों से सम्बन्धित सारा कार्य देखता था । [1]

(6) **षष्टम उप–विभाग ::::–**

यह विभाग गज सेना से सम्बन्धित होता था । इस विभाग के अध्यक्ष को हस्त्याध्यक्ष कहा जाता था । यह विभाग युद्ध में प्रयुक्त होने वाली उपयोगी हाथियों को पकड़वाती थी । हाथियों की देख रेख का कार्य इसी विभाग द्वारा किया जाता था । हाथियों को यौद्धिक क्रिया से सम्पन्न कराने का कार्य यही विभाग करता था । यह गज सेना के संगठन और उसके नियंत्रण का उत्तरदायित्व रखता था । इस तरह यह विभाग हाथियों से सम्बन्धित सारा कार्य देखता था । [2]

इनमें से अन्तिम चार विभाग भारतीय सेना के चार परम्परागत स्कन्धों – पत्ति अथवा पदाति, अश्व, रथ हस्ति के अनुकूल है और ये कौटिल्य के कथनानुसार अपने–अपने अध्यक्षों के अधीन थे । बी0ए0 स्मिथ ने चन्द्रगुप्त मौर्य के सैन्य संगठन की भूरि–भूरि प्रशंसा की है उन्होंने यह भी कहा है कि यह हर दृष्टियों से परिपूर्ण है ।[3]

1– अर्थशास्त्र, 2/33

2– वही, 2/31 एवं 32

3– बी0ए0स्मिथ : अली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ0– 153

मौर्यकालीन सैन्य संगठन एवं उसके विभाग
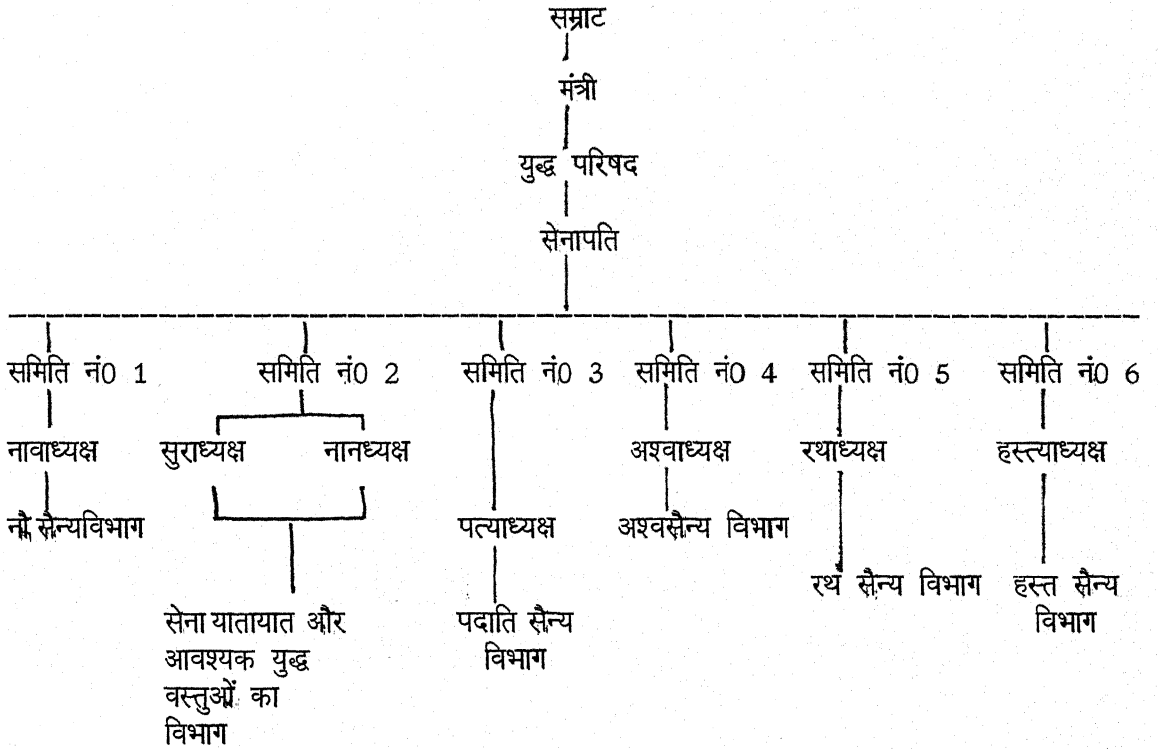
(घ) यौद्धिक वित्त विभाग :::–

रक्षा की भावना और सामरिक आवश्यकताओं के कारण ही राज्य की स्थापना हुई है । अतः प्राचीन भारतीय सैन्य विचारक कोष को राष्ट्र रक्षा के एक मुख्य अंग के रूप में स्वीकार करते हैं । कालान्तर में जब राजाओं की शक्तियों में वृद्धि हुई तो उन्हें आर्थिक क्षेत्र में बहुत से विशेषाधिकार प्राप्त हुआ । अर्थशास्त्र के प्रणेताओं ने राजाओं की शक्तियों पर बल दिया । मौर्यकाल तथा उसके बाद के काल में भारत में बड़े साम्राज्यों का उदय हुआ और उनके अन्तर्गत प्रशासन के अन्य पक्षों की भांति वित्तीय प्रशासन का भी बड़ा विकास हुआ ।

शासनकाल के दौरान राजा को इस बात से अवगत कराया जाता था कि देश का शासन और स्वतंत्रता अर्थनीति या वार्ता पर निर्भर करती है । कृषि, पशुालन और वाणिज्य व्यवसाय सब मिलकर वार्ताशास्त्र है । कोष और दण्ड या सैनिक बल के द्वारा ही स्वयं अपने राज्य में तथा शत्रुता के राज्य में सफल होती है । अर्थात शत्रु वश में किये जा सकते हैं । "अर्थानर्थो वार्तायाम्" अर्थात वार्ता में ही अर्थ भी है । और उसके विपरीत अनर्थ भी है (अर्थशास्त्र) ।[1] महाभारत में कहा गया है कि "वार्तया घायंत सर्वम्" अर्थात वार्ता ही सब राजनीतिक संगठन को धारण करती है । कामन्दकीय नीतिसार के अनुसार "वार्ता वै लोकसश्रयां" अर्थात वार्ता ही समाज का आश्रय है । इसलिए शासकों को वार्ता पर सबसे अधिक ध्यान देना पड़ता था । वार्ताशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार शासन करना उसका कर्तव्य होता था । वास्तव में यह उनका सबसे पहला कर्तव्य होता था और राजा के राज्याभिषेक के समय कहा जाता था – तुम्हें यह राज्य कृषि, क्षेत्र, सम्पन्नता और पालन के लिए दिया जाता है । [2]

महत्व ::::–

जिन–जिन वस्तुओं का एक स्थान में संग्रह होता है वह उनका कोष कहलाता है परन्तु यहां कोष का अर्थ "राज्यकोष" राज्य के खजाने से है । उसका संग्रह प्राचीन भारत में तीन मुख्य कार्यो के लिए होता था ।

(1) सेना रखना,

(2) प्रजा संरक्षण,

(3) यज्ञ,

प्राचीनकाल में कोष की बड़ी महिमा थी । नारद ने ठीक ही कहा है जैसा डाढ़ से रहित सर्प होता है या जैसा सींग टूटा बैल होता है, वैसा ही उस शत्रु को समझना चाहिए जिसके पास न अर्थ होता है और न सेवक । [3]

1– अर्थशास्त्र, 1/3
2– रामचन्द्र वर्मा : हिन्दू राज्यतंत्र, दूसरा खण्ड पृ0–342–44 तथा
अर्थशास्त्र, 12/2 महाभारत, 4/3 कामन्दकीयनीतिसार, 5/190
3– नारद पुराण 2/13

शुक्र का मत है कि बल का आधार कोष है और कोष का आधार बल है ।[1]सोमदेव सूरि का कथन है कि राजाओं की जान कोष ही है, प्राण नहीं । कौटिल्य का मत है कि कोष राज्य का मूल है अतः राजा को कोष पर सर्वाधिक ध्यान देना चाहिये ।[2] इन्ही विचारों से ओतप्रोत होकर मनु ने लिखा है कि राजा दण्ड की व्यवस्था सेनापति पर और सन्धि–विग्रह की व्यवस्था दूत पर छोड़ सकता है लेकिन कोष की व्यवस्था उसे स्वयं अपने आप करनी चाहिये ।[3]इसका अभिप्राय यह है कि कोष होने से राजा को सेना और सेवक सब कुछ सुलभ है, उसके अभाव में कोई पास तक नहीं खड़ा होता । शुक्रनीति एवं महाभारत में यह कहा गया है कि राजा प्रजा का नौकर है जिसे रक्षा करने के कारण वेतन रूप में कर दिया जाता है ।[4] अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने राजा को अपने सैनिकों के प्रति इस प्रकार की प्रेरणा को कहा है – मैं भी तुम लोगों की भांति वेतन–भोगी हूं इस राज्य का उपभोग मुझे तुम लोगों के साथ ही करना है, तुम्हें मेरे द्वारा बताये गये शत्रु को हराना है ।[5]

आज कल की ही भांति प्राचीन भारत में भी राज्य की समृद्धि और उसका स्थायित्व कोष पर निर्भर था । इसी कारण प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों ने कोष को राज्य के सात अंगों में स्थान दिया है । प्राचीन भारतीय वित्त को दण्ड व्यवस्था का पोषक मानते थे क्योंकि वित्तीय स्थिति के अनुसार ही कोई भी राज्य अपनी सैन्य शक्ति का गठन कर सकता था । आधुनिक प्रजातांत्रिक ढांचे में भी रक्षा कार्यों के निमित्त धन के महत्व को स्वीकार किया जाता है ।

वित्त के श्रोत ::–

प्राचीन भारत में राजा स्वतंत्र नहीं था, वह दण्डनीति अथवा धर्म के अधीन था । इसलिए कर–व्यवस्था भी दण्डनीति–शास्त्र व धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित नियमों के अधीन थी । महाभारत में यह

1– शुक्रनीति, 4/128
2" अर्थशास्त्र, 2/5
3– मनुस्मृति, 7/65
4– शान्तिपर्व 61/70 तथा शुक्रनीति 1/187
5– अर्थशास्त्र, 10/3

उल्लेख है कि राजा को धर्म कर लेने तथा प्रजा के हितकर कार्यो पर व्यय करने का ही अधिकार है । भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर को यह उपदेश दिया कि वे जनता से अधिक कर न लें, वरना जनता विरूद्ध हो जायेगी । राज्य का क्षय न चाहने वाले राजा को बछड़े के समान राष्ट्र का दोहन करना उचित है अर्थात कर इस प्रकार लिया जाय कि प्रजा की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनी रहे । एक जगह यह भी उल्लेख है कि जैसे बछड़ा माता के स्तन को न काटकर केवल दूध पीता है और जैसे मधुमक्खी या भौंरा पुष्प से मधु का पान करते हैं वैसे ही राजा राष्ट्र से कर ग्रहण करें ।[1]

(1) कर मूल धन पर नहीं वरन लाभ पर लगाया जाय ।

(2) राजा को कर उतनी ही मात्रा में लगानी चाहिये, जिसके देने में प्रजा को लेशमात्र भी क्लेश न होने पाये । राजा को अपनी प्रजा को इतना परिपुष्ट कर देना चाहिए कि प्रजा धन के लिए वैसे ही स्वयं उत्सुक बनी रहे, जैसे दूध से भरे थनो वाली गाय अपने बछड़े को दूध पिलाने के लिए उत्कंठित रहती है ।

(3) राजा प्रजा की रक्षा करने के अधिकार से ही कर ग्रहण करने का भागी होता है ।[2]

शुक्रनीतिसार में यह कहा गया है कि ब्रम्हा ने राजा को बनाया है । यद्यपि उसने राजा को स्वामी के रूप में बनाया परन्तु वास्तव में वह प्रजा का पालन करने वाला सेवक ही है । प्रजा की निरन्तर रक्षा और वृद्धि करने के बदले में राजा को राज–कर के रूप में उसका अंश या वेतन मिलता है ।[3]

हिन्दू कर पद्धति के बारे में यह कहा जा सकता है कि यह सिद्धान्त संवैधानिक दृष्टि से बड़े महत्व का है । करों को कानून द्वारा नियत किया गया और करों की दरें धार्मिक नियमों में समाविष्ट की गयी थी । इसके परिणामस्वरूप शासन का रूप कुछ भी रहा हो कर लगाना शासक की मनचाही पर

1– शान्तिपर्व, 87/18–21/88/4–6, 120–34
2– शुक्रनीति, 4/221, 2/171–72, 1/72
3– रामचन्द्र वर्मा : हिन्दू राजतंत्र द्वितीय संस्करण पृ0- 324–26

निर्भर नहीं था । साथ ही करों के प्रश्न पर जनता व राजा के बीच कोई संघर्ष नहीं उठता था । साहित्य में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं कि कर कानून द्वारा नियम थे । चन्द्रगुप्त महान को सैल्युकस से युद्ध करने के लिए अधिक धन की आवश्यकता थी । सम्राट और उसके अर्थ मंत्री कौटिल्य के समझ में नहीं आया कि क्या किया जाय ? कानून द्वारा नियत करों से चाही धनराशि संग्रहीत नहीं हो सकती थी । जैसा कि अर्थशास्त्र में यह स्पष्ट है कि उन्होंने अजीब तरीके अपनाये, जिससे कानून की शान भी बनी रही और नियत कर व्यवस्था से उत्पन्न असुविधा भी दूर हो गयी । चन्द्रगुप्त ने प्रजा से प्रणय अर्थात राजा के प्रति प्रजा के स्नेह के आधार पर धन मांगा और उसने मन्दिरों से भी धन संग्रह किया ।[1]

करों द्वारा संग्रहीत धन मत्रियों के नियंत्रण में रहा था और उन्हें भी कर वसूली की शक्ति प्राप्त थीं । अर्थ विभाग मंत्रियों के अधीन होता था । वैदिककाल में भी कोषाध्यक्ष राजा के रत्नियों में से एक होता था । इतना ही नहीं जैसे कि पहले कहा जा चुका है, करों को हिन्दू राजनीति में प्रशासन के हेतु राजा का पारिश्रमिक सुझा जाता था । इसी सिद्धान्त को राजशास्त्रीयों ने कर विषयक दैवी सिद्धान्त कहा ।[2] शुक्र ने कहा है कि ईश्वर ने राजा को बनाया है । यद्यपि वाह्य रूप में वह स्वामी है । किन्तु वह जनता का सेवक है जो करों के रूप में प्रजा की रक्षा और विकास के हेतु अपना पारिश्रमिक पाता है [3]

मौर्यकालीन कर पद्धति आदर्श और उपयुक्त थी । उसमें परिस्थिति के अनुसार छूट देने की व्यवस्था भी थी । बहुत से लेखक यह मानते हैं कि मौर्यकाल की कर व्यवस्था वास्तविक व्यवहार में न्यायसंगत और औचित्यपूर्ण थी । कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा राधाकुमुद द्वारा लिखित ग्रन्थ के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि मौर्यकाल का आर्थिक जीवन बड़ा ही व्यापक और नियंत्रित था । राज्य देश की

1- अर्थशास्त्र, 2/22
2- अर्थववेद, 9/32/3
3- शुक्रनीति, 1/187

कृषि उद्योग तथा व्यापार आदि को सगठित तथा नियन्त्रित करता था । कृषि का बड़ा अश सीधे राज्य के स्वामित्व अधीन था और राज्य की अपनी भूमि मे कृषि होती थी ।[1] कृषको के कार्य मे राज्य हस्तक्षेप नही करता था । राज्य मे अपने कुछ अधिकारयुक्त उद्योग भी थे । बी0के0 सरकार ने लिखा है कि मौर्य साम्राज्य उनके उद्योगो का स्वामी था और धन के उत्पादन पर नियत्रण रखता था । राज्य कानूनो द्वारा आर्थिक जीवन के अधिक महत्वपूर्ण अगो- वितरण विनिमय आदि को विनियमित करता था । सरकार ने अधिकतम सूद की दर नियत कर दी थी । प्रकृति की इस प्रकार की आर्थिक कार्यवाहियो मे साम्राज्य द्वारा हस्तक्षेप को जिसे प्रबुद्ध स्वेच्छनारी शासको के अधीन एक प्रकार की राजकीय समाजवाद कह सकते है कम से कम साधारण श्रमिको ने अवश्य ही पसन्द किया होगा ।[2]

मौर्य साम्राज्य[3] मे अन्य कर तथा राज्य की आय के श्रोत अग्रलिखित थे -

(1) जिन गावो को राजा के कहने पर बसाया जाता था वहा राजकीय कृषि फार्म होते थे जिन्हे दास तथा अपराधी जोतते बोते थे जोतने बोने वाले लगान तथा कर देते थे ।

(2) खनिज पदार्थो व खानो पर राज्य का एकाधिकार था और धातुओ के उत्पादन पर भी राज्य का ही एकाधिकार था ।

(3) मदिरा पर आबकारी महसूल था जिसे सुराध्यक्ष वसूल करता था ।

(4) आयात और निर्यात की वस्तुओ पर शुल्क लिया जाता था ।

(5) वनों से आय होती थी ।

(6) राजकयी फार्मो पशु फार्मो, कारखानो कपड़ा बुनने के कारखानो से होने वाली आय ।

(7) श्रेणियो दस्तकारो. कुछ प्रकार के मजदूर वर्गो जुआरियो और वैश्याओ पर भी कर लगाया जाता था ।

1- आर0के0मुकर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज़ टाइम्स पृ0- 197-98
2- बी0के0सरकार : दि पोलिटिकल इन्स्टीटयूशन्स एण्ड थ्योरीज आफ हिन्दूज पृ0- 134
3- अर्थशास्त्र 2/22

(8) नौका कर, मार्ग कर यात्रियों और सामान पर कर ।

(9) न्यायालयों द्वारा किये गये जुर्माने व जब्त की गयी सम्पत्ति ।

(10) भू–गर्भ साधन व ऐसी खोयी हुई वस्तुओं पर राज्य का अधिकार, जिसका कोई स्वामी न हो

(11) जिस सम्पत्ति का कोई उत्तराधिकारी न होता था उस पर भी राज्य का अधिकार हो जाता था ।

(12) आपातकाल में असाधारण कर व प्रणय कर ।

(13) सेना के लिए अंशदान (सेनाभत्ता) ।

(14) दस्तकारों का परिश्रम (विष्टि बेगार) ।

व्यय के मद ::::–

कौटिल्य[1] के अर्थशास्त्र से यह पता चलता है कि राज्य के क्या क्या कार्य थे । जिसको पूरा करने के लिए राज्य को कितना व्यय करना पड़ रहा होगा । अर्थशास्त्र के अध्ययन के बाद राज्य के कार्यो की निम्नाकित सूची बन सकती है । (1) बाह्य आक्रमणो और आन्तरिक अव्यवस्था से राज्य की रक्षा हेतु सेना (2) नाविक सेना तथा अन्य प्रकार से प्रतिरक्षा, (3) पुलिस (4) न्याय तथा न्यायालय (5) सफाई (6) चिकित्सा सहायक (7) सार्वजनिक उपयोग व निर्माण के कार्य (सड़के सिचाई आदि) (8) धार्मिक कार्य और विद्या, (9) नाप और तौल के मानक निर्धारण कर उनहे लागू करना (10) जनगणना करना (11) उद्योगो और कारखानों को सहायता देना तथा (12) विकास सम्बन्धित अन्य कार्य

अतएव राज्य द्वारा व्यय के मुख्य मद निम्नलिखित रहे होगे, यद्यपि उनका विस्तृत उल्लेख नही किया गया है (1) राज परिवार राजमहल और भोजनालय (2) धार्मिक सेना यज्ञो का कराना और पुरोहितो को धन एव वेतन देना, (3) सेना और नागरिक सेवा, (4) शस्त्रागार कारखाने भण्डागार

1– अर्थशास्त्र 8/2

पशुफार्म, शाही घोड़े और हाथी, (5) विद्वानों तथा विभिन्न प्रकार की कलाओं व हस्तकला के कुशल शिक्षकों का पेन्शन, (6) दरिद्र, वृद्ध और अपंग व्यक्तियों का निर्वाह, (7) सार्वजनिक उपयोग के कार्य, विभिन्न प्रकार के मार्ग, (8) प्राकृतिक प्रकोप अकाल आदि से पीड़ित व्यक्तियों की सहायता ।

प्राचीनकाल में, स्थायी सेना के रूप में चर आदि सैनिकों को सेना माना जाता था । अश्व और हाथियों की संख्या में बराबर वृद्धि ही की जाती थी जिसके कारण सैनिक कार्य हेतु सैनिक व्यय में वृद्धि असम्भावी था । मौर्यकाल में इन विषयों का और भी अधिक विकास हुआ था । कौटिल्य द्वारा निर्मित की गयी सैन्य सगठन अधिक ही व्ययसाध्य थी । इनके ग्रन्थ अर्थशास्त्र से इस बात की जानकारी मिलती है कि सैनिको को स्थायी वेतन आदि दिया जाता था । एक जगह पर यह उल्लेख है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा तथा राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के कार्यो हेतु मौर्य साम्राज्य के कुल व्यय का लगभग 25 प्रतिशत भाग इस कार्य पर व्यय किया जाता था ।[1]इससे यह स्पष्ट है कि इस एक चौथाई भाग का 80 प्रतिशत भाग सैनिको की भर्ती पर व्यय किया जाता था ।[2]शुक्रनीति मे इस प्रकार का विवरण मिलता है कि जिसमे शुक्र ने सैन्य व्यय की आवश्यकता को महत्वपूर्णा समझ कर ही राज्य की आय के एक तिहाई अश को उसके निमित्त व्यय करने को कहा है ।[3]लेकिन एक अन्य जगह पर यह उल्लेख मिलता है कि किस–किस मद पर कितनी राष्ट्र की आय को व्यय किया जाता था ।[4]उसके अनुसार ::–

	व्यय की मद		कुल व्यय का प्रतिशत
1–	सेना (बलम्)	–	50
2–	दानधर्म (दानम्)	–	8–$\frac{1}{3}$
3–	उच्चाधिकारी वर्ग	–	8–$\frac{1}{3}$
4–	शासन व्यय (अधिकरण)	–	8–$\frac{1}{3}$
5–	राजपरिवार पर व्यय (आत्मभोग)	–	8–$\frac{1}{3}$
6–	स्थायी कोष	–	6–$\frac{2}{3}$

1– बी0के0सरकार: दि पोलीटिकल इन्स्टीटयूशन्स एण्ड थ्योरीज आफ दि हिन्दूज, पृ0–118–20
2– अर्थशास्त्र 5/3
3– त्रिमिरंशौर्वलघर्य – शुक्रनीति, 1/314 4– शुक्रनीति 4/138

शुक्रनीति में एक अन्य स्थल पर राज्य की 100000 वर्ष सिक्का की आय को राज्य के विभिन्न विषयों पर व्यय करने की व्यवस्था में 48000 वर्ष सैनिक विषय पर व्यय करने का उल्लेख किया गया है । [1]

वित्त विभाग :::–

प्राचीनकाल में सैनिक व्यय को देखकर यह कहा जा सकता है कि सैनिक व्यय की व्यवस्था के लिए ऐसा कोई वित्त विभाग जरूर रहा होगा जिसके द्वारा यह कार्य सम्पादित किया जाता था इस विभाग के लिए कोई उच्च पदाधिकारी भी रहा होगा । गुप्तकाल में इसका स्पष्ट वर्णन मिलता है कि राष्ट्रीय आय–व्यय देखने हेतु रणभण्डारागारधिकरण युद्धकोष विभाग था । जिसके अध्यक्ष को "रणभण्डागाराधिकरण" कहते थे । ऐसा लगता है कि यह विभाग अन्य विभागों से पूर्णरूपेण अलग था ।

वित्त विभाग से सम्बन्धित उत्तरवैदिककाल में लगभग छः अधिकारियों का वर्णन मिलता है जो कर संग्रह करते थे । शर्मा के मतानुसार ग्राम–भोजक ओर अन्य कर वसूल करने वालों के निश्चित रूप से ठीक–ठीक कार्यो और उनके पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण नहीं किया जा सकता । फिक का मत है कि ग्राम–भोजक, जिसका उल्लेख जातक ग्रन्थों में हुआ है, गावों में राजकर वसूल करना था ।[2] जातक ग्रन्थों में सन्निधाता अथवा कोषाध्यक्ष का वर्णन मिलता है । वित्त विभाग तथा उसके पदाधिकारियों का विस्तारपूर्वक विवेचन कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मिलता है । दिक्षितार ने लिखा है कि सन्निधाता आजकल के वित्त मंत्री के समान था और वह सभी प्रकार की आय का सर्वोच्च अधिकारी था । समाहती कर वसूल करने वाले अधिकारी वर्ग में प्रमुख था, जिसे कलक्टर–जनरल कह सकते हैं । कदाचित इसी अधिकारी को वैदिककाल में समग्रहिता (कोषाध्यक्ष) कहते हैं । [3]

1– शुक्रनीति, 4/7/24
2– आर0एस0शर्मा : आस्पैक्टस आफ पोलीटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीटयूशन्स इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 133
3– वी0आर0आर0 दिक्षितार : हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीटयूशन्स, पृ0 215

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में कोषाध्यक्ष के बारे में लिखा है – सैन्निधाता (कोषाध्यक्ष) को चाहिए कि वह कोषगृह, भाझागार, कृषगृह, शस्त्रागार और कारागार का निर्माण कराये । कोष्ठागार का अध्यक्ष प्रत्येक वस्तुओं के विशेषज्ञों की सहायता से नये–पुराने का भेद समझकर रत्न, चन्दन, वस्त्र, लकड़ी, चमड़ा आदि उपयोगी वस्तुओं का संग्रह करे । सिक्कों के पारखियों से सोने का संग्रह कराना चाहिए । धान्याधिकारी को चाहिए कि वह शुद्ध नया और पुराना अन्न ले । कोषाध्यक्ष को चाहिए कि विश्वासी पूरूषों के सहयोग से धन संग्रह करे । उसे इतना ज्ञान होना चाहिए कि यदि 100 वर्ष पीछे की आय पूछी जाय तो बिना रूके तुरन्तबतला दे । बचे हुए धन को सदा कोश में दिखाते रहना चाहिए । संक्षेप में सन्निधाता के कर्तव्य ये थे – यह देखना कि जो आय संग्रहीत की जाय वह उसके कार्यालय मे ठीक प्रकार से प्राप्त की जाय ओर उसे सुरक्षित रखा जाय । उसी पर कीमती पत्थरों अनाज के भण्डारों, वन की पैदावार, स्वर्ण तथा अन्य वस्तुओं के कोष का भार था, और उसके नियंत्रण के अधीन शस्त्रागार, कारागार, न्यायालय आदि के भवन भी थे ।[1] इससे स्पष्ट पता चलता है कि कोशाध्यक्ष केन्द्रीय सरकार का उच्च अधिकारी था । अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने समाहर्ता के बारे में लिखा है कि समाहर्ता को चाहिए कि दुर्ग, राष्ट्र, खदान, सेतु, वन, ब्रज आदि और व्यापारिक मार्गों का निरीक्षण करे ।[2]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राज्य में सामाजिक दर्शन के आधार पर प्राचीन भारत में यौद्धिक वित्त व्यवस्था पर समुचित ध्यान दिया जाता था । राष्ट्रीय सेना को सुदृढ बनाने के लिए राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग व्यय किया जाता था । क्योंकि राज्य के निर्माण के लिए युद्ध का मजबूत हाथ है, ऐसा विश्वास किया है । राष्ट्रीय हित हेतु यौद्धिककाल में राजा प्रजा की आय का 1/4 से 1/3 भाग तक द्रव्य ग्रहण कर सकता है ।[3] शुक्र ने अपना मत स्पष्ट करते

1– अर्थशास्त्र, 2/5 2– वही, 2/9
3– मनुस्मृति, 10/118

हुए कहा है कि राष्ट्रीय कोष में द्रव्य तथा धनधान्य इतना होना चाहिए कि वह किसी भी आपातकाल में 3 वर्ष तक[1] तथा शान्तिपूर्वक ढंग से 20 वर्श तक चला सके ।[2]

आपात स्थितियों के बारे में आचार्य कौटिल्य का मत हे कि ऐसे समय में राजा अगर कर वृद्धि के बारे में सोचता है तो पहले उसे प्रजा का स्नेह लेना चाहिए फिर स्नेह प्रापित के बाद उसे कर बढ़ाना चाहिए । यह कर मात्र एक ही बार बढ़ाया जाय ।[3]

इन स्थितियो मे यह आभास मिलता हे कि प्राचीन भारतीय आचार्य इस बात से भलीभाति परिचित थे कि अर्थ व्यवस्था से सैन्य व्यवस्था सुदृढ़ की जा सकती है । सैन्य व्यवस्था को सुदृढता से राष्ट्रीय सुदृढता रहती हे । इसलिए शुक्र ने लिखा है कि राष्ट्रीय वित्त व्यवस्था को बराबर सुदृढ रखने के िए राज्य अपने आय का 1/6 भाग हर वर्ष सुरक्षित रखे ।[4]ऋगवेद मे ऐसा उल्लेख मिलता है कि राजा के लिए बलि, शुल्क अथवा कर की व्यवस्था भी सुप्रशासन तथा रक्षा कार्यो के लिए ही की गयी है ।[5]शुक्र ने तो यहा तक कहा है कि योद्धिक वित्त विभाग मे एक ऐसा बेखक होता था जो सैनिको और सैन्य विभाग के अधिकारियो के वेतन तथा इस विभाग से सम्बन्धित आय व्यय आदि का विवरण भी रखता था ।[6]

उपरोक्त विवरण के अनुसार कौटिल्य द्वारा अपनायी गयी अर्थव्यवस्था का उल्लेख अत्यन्त सराहनीय है क्योकि हमे उनके ग्रन्थ मे शान्तिकाल के लिए सार्वजनिक वित्त और युद्धकाल के लिए सार्वजनिक वित्त के बीच स्पष्ट अन्तर मिलता है । इन दोनो प्रकार की वित्तीय व्यवस्थाओ के मुख्य सिद्धान्त एक ही थे सुदृढ और शक्तिशाली राज्य का कल्याण । ऐसा ही मत बी0ए0 सैलटोर का भी है[7]

1– शुक्रनीति, 4/140
2– वही, 4/128
3– अर्थशास्त्र, 5/3
4– शुक्रनीति, 1/315 से 316
5– ऋगवेद, 7/6/5
6– शुक्रनीति 2/145
7– बी0ए0सैलेटोर : एसियेन्ट इण्डियन पोलिटिकल थाट एण्ड इन्स्टीटयूशन्स पृ0– 448

मौर्यकालीन सारी अर्थव्यवस्था का सूक्ष्म अध्ययन करने के बाद यह पता चलता है कि इस काल में सैन्य व्यय राज्य के अन्य क्षेत्रों के व्ययों से अधिक ही होता था । एक जगह पर यह उल्लेख है कि यौद्धिक वित्त विभाग द्वारा चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना पर कितना वार्षिक खर्च किया जाता था । [1]

पदाति	600000 500	=	300000000	पण वार्षिक (1 पण = 80 पै0)
अश्वारोही	300000 1000	=	300000000	"
महारथी गजारोही	1000 750 3	=	20250000	"
रथारोही सारथी	8000 750 2	=	12000000	"
घोड़ों की परिचायक	46000 60	=	2760000	"
अश्वाध्यक्ष		=	4000	
पत्याध्यक्ष		=	4000	
रथाध्यक्ष		=	4000	
हस्त्याध्यक्ष		=	4000	
अश्वामुख		=	8000	
रथामुख		=	8000	
अस्तिमुख		=	8000	
श्रेणीमुख		=	8000	
सेनापति		=	48000	
नायक		=	12000	

योग 365118000 पण वार्षिक

1- विन्सेन्ट स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ0- 131-33

(ड.) आयुधागार ::::–

आयुधागार यह एक ऐसा विभाग है जिसके अन्तर्गत सैनिक शस्त्रास्त्रो के भण्डार की देखरेख विभिन्न प्रकार के शस्त्रास्त्रो के एकत्रित करने तथा यौद्धिक प्रक्रिया के बाद खराब हो जाने वाले शस्त्रो की मरम्मत करने का काम किया जाता है । इसी विभाग के माध्यम से शस्त्रो का वितरण किया जाता है । आधुनिक युग मे इसी विभाग पर राष्ट्र गर्व करते है । क्योकि सैन्य शस्त्रास्त्रो के श्रेयष्कर बनाने का कार्य इसी विभाग द्वारा किया जाता है प्राचीन भारतीय आचार्य विजय प्राप्त करे के लिये आत्मबल और बाहुबल के समान ही शस्त्रबल पर विश्वास करते है । आचार्य शुक्र ने बल को छ भागो मे बाटा है उनका कहना है कि राष्ट्र के लिए शरीरबल, शौर्यबल, सैन्यबल अस्त्रबल बुद्धिबल और अवस्थाबल नितान्त आवश्यक है ।[1]ऐसे वक्तव्यो से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय आचार्य शस्त्रो पर विश्वास रखकर उसके निर्माण एव मरम्मत के साथ उसके सुरक्षा पर विशेष ध्यान देते थे । प्राचीनकाल मे ऐसा कोई उल्लेख नही मिलता जिससे यह स्पष्ट किया जा सके कि आयुधागार विभाग कोई अलग अस्तित्व रखता था । लेकिन वैदिक काल मे ऐसे उदाहरण जरूर मिलते है जिससे शस्त्र भण्डारण की बात परिलक्षित होती है । उद्योगपर्व मे यह उल्लेख किया गया है कि पाण्डव सेना के साथ एक विशाल शस्त्र भण्डार था [2] उत्तरवैदिक काल मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलने लगे जिससे यह बात स्पष्ट होने लगी कि इस काल मे आयुधागार एक अलग विभाग हो गया । मनु एव शुक्र[3] ने ऐसे अनेक स्थलो पर यह कहा है कि राजा अपनी सेना को सगठित एव सुसज्जित करने के लिए कारीगरो एव शिल्पियो को समुचित भृति दे ।

मौर्यकाल मे कौटिल्य[4] ने आयुधागार की एक अलग व्यवस्था ही कर दी । जिसके लिए एक अध्यक्ष की नियुक्ति के बारे मे कहा और उसके लिए उन्होने आयुधागाराध्यक्ष की सज्ञा दी ।

1– शुक्रनीति, 4/868–69
2– महाभारत–उद्योगपर्व, 151
3– मनुस्मृति, 3/12/4 एवं शुक्रनीति 4/867–68
4– अर्थशास्त्र, 2/18

आयुधागाराध्यक्ष के कार्यों को स्पष्ट करते हुए कौटिल्य ने कहा है कि आयुधागार के अध्यक्ष को चाहिए कि वह युद्धोपयोगी सामाग्री तैयार करने वाले कारीगरों एवं कुशल शिल्पियों के द्वारा युद्ध में काम देने वाले, दुर्ग की रक्षा के योग शत्रु के नगर को विध्वंस कर देने वाले सर्वताभद्र (मशीनगन) जामदग्न्य आदि यंत्र, शान्ति धनुष आदि हथियार, कवच और सवारी आदि जितने भी साधन हैं, उनका निर्माण कराये । उन कारीगरों से कितने समय में कितनी मजदूरी देकर कितना काम कराया जाय इत्यादि बातों को वह पहले ही से निश्चित कर ले । तैयार हुए सामानों को उसके उपयुक्त स्थानों में रखवा दिया जाय अथवा अपने ही कब्जे में रखा जाय । अध्यक्ष को चाहिए कि जिससे सामान पर जंग आदि न लगे, उसको धूप, हवा भी दिखाता रहे, गीशील और धनु आदि के कारण जो हथियार खाराब हो रहे हों उन्हें वहां से उठवा कर किसी ऐसे स्थान में रखवा दें कि वे अधिक खराब न होने पावें, उन हथियारों, के जाति स्वरूप लक्षण, लम्बाई, चोड़ाई, मोटाई, प्राप्ति स्थानमूल्य लक्षण आदि उपयुक्त स्थान के सम्बन्ध में प्रत्येक बात को अच्छी तरह से समझ बूझ लें । 1

कौटिल्य ने शस्त्रास्त्रों का अलग–अलग वर्णन भी किया है । इनमें आक्रामणात्मक और सुरक्षात्मक दोनों ही प्रकार के अस्त्र–शस्त्र सम्मिलित हैं । कौटिल्य ने उनके रखने की व्यवस्था का तथा उन पर विभिन्न ऋतुओं के प्रभाव का भी वर्णन विस्तृत ढंग से किया है ।

इस तरह आयुधागार ही राज्य का एक मात्र शस्त्रास्त्र निर्माण करने वाला कारखाना कहा जा सकता है । शायद ऐसी भी पाबन्दी थी कि इसके अतिरिक्त कोई दूसरा कारखाना न खोला जाय ।

1– अर्थशास्त्र, 2/34–18
2– वहीं, 2/18

अध्याय (3)

प्राचीन भारतीय सैन्य प्रशासन

प्राचीन भारतीय सैन्य प्रशासन

प्राचीन भारत में शासन पर विशेष ध्यान दिया जाता था । ऐसा लगता है कि सभ्यता के विकास के साथ ही प्रशासन–पद्धति का विकास होता गया है । प्रशासन का प्रारम्भिक रूप वैदिक काल में देखने को मिलता है । मौर्यकाल में यह प्रशासनिक पद्धति लगभग अपने चर्मोत्कर्ष पर थी । वैदिककाल में राजा के इर्द–गिर्द अधिकारी पाये जाते थे, ऐसा उल्लेख है ।[1] उनमें से कुक सम्बन्धी, राजकर्तार और प्रशासन अधिकारी होते थे, जैसे रथकार, मुखिया, सेनापति इत्यादि । तैत्तिरीयसंहिता तथा तैत्तिरीय ब्राम्हिण[2] में इन रत्नियों[3] का उल्लेख इस प्रकार है – ब्राम्हण राजन्य, महिषी (रानी), सेनानी, सूत (रथवान) ग्रामणी, क्षत्र (राजमहल का अधिकारी) संगृहित्री (कोषाध्यक्ष), भागदुध(कर संग्रह करने वाला) और अक्षवाय (द्यूत–जुए का अध्यक्ष) ।

एन0एन0ला ने शतपथ ब्राम्हण के शबदो का उल्लेख करते हुए लिखा हे कि इनके आतिरिक्त गो विकर्तन और पालागम नाम के दो अधिकारियो का उल्लेख मिलता हे । गो- विकर्तन के बारे म इन्होने लिखा हे कि

1– ऋगवेद – 1/24/8, 10/175/1, तथा अथर्ववेद, 3/4/2
2– तै0ब्रा0, 1, 8, 3
3– पं0ब्रा0 19, 1, 4, में रत्नी को "वीर" पदवी से सम्बोधित किया हे ।

इसे शिकारी अथवा गायों को मारने वाला कहा जाता है ।[1] लेकिन ऐसा माना जाता है कि इसे बूचड़खानों का अधीक्षक कहा जाता था । इनके कार्यों को करने वाला अधिकारी कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सूचनाध्यक्ष[2] ओर विविताध्यक्ष कहा जाता था ।

पालागम को सन्देशवाहक और उसे दूत का पूर्वज माना गया । बेनी प्रसाद ने इनके बारे में लिखा है कि यह सोचना कठिन है कि उनका पद और उनका कार्य ठीक–ठीक क्या थे, परन्तु ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि ऋगवैदकाल के समय के बाद प्रशासनिक विकास काफी हो चुका था, राजमहल ओर प्रशासन अधिकारी काफी संख्या में नियुक्त होने लगे थे । दोनों प्रकार के अधिकारियों के बीच कोई स्पष्ट अन्तर न था और सम्भवतया वे ही व्यक्ति दोनों रूप में कार्य करते थे ।[3]

रामायण तथा महाभारत[4] प्रशासन विभाग को विस्तृत रूप में वर्णित किया है, उसने उनके प्रशासन विभाग के पदाधिकारियों का भी वर्णन किया है । लेकिन कौटिल्य ने प्रशासन विभाग को अति विस्तृत रूप में वर्णित किया है । कौटिल्य के अर्थाशास्त्र का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि उस काल में प्राचीन प्रशासन पद्धति का विकास चरम सीमा पर पहुंच गया था ।[5] इस सन्दर्भ में बेनी प्रसाद ने लिखा है कि हम देख सकते हैं कि राज्य का औसत आकार बढ़ गया था और तदनुसार प्रशासन पद्धति का रूप बृहत हो गया था । अनेक नये कार्यालय बन गये थे और स्थानीय शासन के क्षेत्रों का विभाजन स्पष्ट हो गया था । साथ ही सम्राट और उसके अधीन करद राजाओं (व प्रान्ताधिकारियों) आदि के बीच विभिन्न प्रकार के पारस्परिक सम्बन्धों का एक जाल सा फैल गया था ।[6]

मौर्य साम्राज्य (जिसकी स्थापना लगभग 320 ई0 पूर्व हुई थी) में प्रशासन पद्धति ने लगभग हर क्षेत्र में अपना सर्वांगीण विकास कर लिया था । इस काल में लोकप्रिय सभाओं का कोई चिन्ह नहीं

1– श0प्र0ब्रा0 – 5/3/1 एन0एन0ला : आस्पेक्टस आफ एसियेन्ट इण्डियन पालिटी, पृ0 91
बेनी प्रसाद : दि साटे इन एसियेन्ट इण्डिया पृ0– 44
2– अर्थशास्त्र, 2/26 3– बेनी प्रसाद : दि स्टेट इन एसियेन्ट इण्डिया पृ0–44
4– रामायण, 2/100/36 तथा महाभारत 4/5/38
5– अर्थशास्त्र, 2 6– बेनी प्रसाद दि स्टेट इन एसियेन्ट इण्डिया पृ0–50

मिलता वरन यहां उसमें केन्द्रीय, [1] प्रान्तीय और जिला शासन[2] तथा आय–व्यय[3] न्या आदि प्रशासन का बड़ा ही विस्तृत तत्र मिलता है । इससे अनुमान लगाया जाता है कि इस काल से पूर्व इतना विस्तृत प्रशासन विभाग कभी नही था । गुप्त साम्राज्य के समय मौर्यकाल के प्रशासन विभाग को थोड़ा विस्तृत रूप दिया गया, लेकिन फिर उसके बाद कोई विकास न हो सका । हा यह स्वीकारा जा सकता है कि इनके विभागो मे कभी बढ़ोत्तरी होती तो कभी सख्या घट भी जाती थी ।

पदाधिकारियो का वर्गीकरण

कार्यो के आधार पर प्राचीन भारत मे प्रशासन के मुख्य विभागो को बाटा जाता था । प्रारम्भिक का। मे छोटे राज्यो के विभागो की सख्या बहुत ही कम थी । विष्णुस्मृति मे खान चुगी. नौका और हाथी केवल इन्ही चार विभागो का उल्लेख है ।[4]प्रगैतिहासिक कश्मीर राज्य मे सात विभाग थे अशोक के पुत्र जलौक ने उनकी सख्या बढ़ाकर अट्‌ठारह कर दी थी । लगभग नवम शताब्दी के बाद ललितादित्य ने इनकी सख्या बढ़ाकर तेईस कर दी थी ।[5]रामायण मे अट्‌ठारह विभागो का उल्लेख है [6] महाभारत[7] मे भी अट्‌ठारह विभागो का वर्णन किया गया है । लेकिन इन विभागो का नाम नही दिया गया है । तत्तिरीय सहिता एव तैत्तिरीय ब्राम्हण मे केवल आठ मुख्य अधिकारियो का उल्लेख है, जो पृथक पृथक विभागो के उच्चतम अधिकारी थे । पचविश ब्राम्हण मे भी आठ वीर उल्लिखत है जिनमे पुरोहित महिषी, सूत ग्रामणी क्षत्र सग्रहीता आदि को सम्मिलित किया गया है ।[8]

महाभारत [9] के टीकाकार नीलकण्ठ के अनुसार निम्नलिखित अट्‌ठारह तीर्थ थे 1–मंत्री 2–पुरोहित, 3– चूमपति (सेनापति), 4– द्वारपाल,

---

1– अर्थशास्त्र, 2/10
2– वही, 2/36
3– वही, 2/5
4– एपिक इण्डिका, 2/3/16
5– राजतरंगिणी 1/118–20, 4/141
6 – बालमिकी रामायण : अयोध्या काण्ड, 2/100,36
7– महाभारत 4/5/38
8– शिवदत्त ज्ञानी : भारतीय संस्कृति पृ0–189
9– महाभारत 12/85

5- अन्तर्वेषिक (अन्तःपुर का अधिकारी), 6–कारागाराधिकारी, 7–द्रव्यसंचयकृत, 8–कृत्याकृत्येष्वर्थाना (योग्य–अयोग्य कार्यो का विनियोग करने वाला), 9–प्रदेष्टा, 10–नगराध्यक्ष, 11–कार्य निर्माणाकृत, 12–धर्माध्यक्ष, 13–दण्डपाल, 14–दुर्गपाल, 15–राष्ट्रान्तपाल, 16–अटवीपाल (वन विभाग का अध्यक्ष) इत्यादि ।

कौटिल्य [1] के अर्थशास्त्र मे तीर्थो को महामात्य कहा गया है कि जो उच्च व हीन विभागो के अध्यक्ष थे । उनमे उनके नाम इस प्रकार है (1) मत्री, (2) पुरोहित (3) सेनापति (युत्रमत्री), (4) युवराज (5) दैवारिक (द्वारपाल) (6) अन्वंशिक (7) प्रशास्त (छावनी का रक्षक), (8) समाहर्ता, (9) सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) (10) प्रदेष्टा (कमिश्नर), (11) नायक (सूबेदार), (12) दण्डपाल, (13) दुर्गपाल, (14) अन्तपाल (15) कामन्तिका. (16) पौर (नगर कोतवाल) (17) व्यावहारिक (बाजार अधिकारी), (18) कार्तान्तिक (खदानो का इचार्ज), (19) मत्री परिषद का सभापति (20) आटविक (वनो का अधीक्षक) ।

एन0एल0 ला ने अट्ठारह तीर्थो पर अपना मत व्यक्त करते हुए यह कहा है कि सम्भवतया राज्य के सभी आवश्यक कार्य इन विभागो द्वारा देखे जाते थे साथ ही राज्य की आवश्यकता भी इनके द्वारा पूर्ण कर ली जाती थी । जैसे राज्य के नीति सम्बन्धी प्रश्नो पर विचार, राज्य की सहायता देश मे न्याय प्रशासन, आन्तरिक शान्ति और बाह्य सुरक्षा राज्य के करो क वसूली और जनता की भौतक आवश्यकताओ की पूर्ति ।[2]सोमदेव सूरी ने नीतिवाक्यामृत के अध्याय दो मे तीर्थो की परिभाषा देते हुए कहा है कि वे राज्य के कार्यपालिका कार्यो के कार्यभार तथा कानूनी अधिकार है धर्मसमवायिन कार्यसमवायिनश्च पुरूषा तीर्थम ।[3]डा0 जायसवाल का मत है कि तीर्थो का अर्थ विभागो का

1– अर्थशास्त्र, 1/14/15
2– एन0एन0ला : आसपैक्टस आफ एसियेन्ट इण्डियन पालिटी, पृ0–88
3– सोमदेव सूरि : नीतिवाक्यामृत, 2

धारणकर्ता अर्थात मुख्य अधिकारियो से है । तीर्थ का शाब्दिक अर्थ नदी के उस उथले थाग से है, जिससे होकर नदी को पार किया जा सके अर्थात रास्ता । मत्रियो तथा विभागो के अध्यक्षो को यह नाम सम्भवत इस कारण से मिला कि उनके द्वारा होकर ही उनके विभागो को आदेश जारी होते थे ।[1]

यूनानी लेखको ने भारतीय प्रशासन का जो वर्णन किया है उससे ज्ञात होता है कि उन्होने प्रशासन के अनेक और भिन्न भिन्न पहलुओ को देखा था । उनके द्वारा निम्नलिखित विभागो का उल्लेख किया गया है[2] - (1) मत्री और परामर्शदाता, (2) मुख्य अधिकारी (विभागो एव नगरो के अध्यक्ष) (3) भूमि व्यवस्था विभाग, (4) वन, (5) धातु उद्योग, (6) शहरी कारखाने (7) नगरो मे सराय (8) बीमारो की देखभाल (9) नाप और तौल (10) पुजारी पुरोहित, (11) कोषाध्यक्ष, (12) न्यायाधीश (13) ओवरसीयर (14) सार्वजनिक कार्यो के नियत्रक (15) बाजार का नियत्रक (16) जन्म मरण के आकड़े (17) नगरो मे विदेशी लोग, (18) खनिज, (19) इमारती लकड़ी के कारखाने (20) कृषिक (21) सिचाई (22) भूमि कर तथा अन्य कर, (23) पशु चराने वाले शिकारी (24) जहाज बनाने वाले (25) नहरो ओर नदियो के पानी को सिचाई के लिए वितरण करने वाले अधीक्षक (26) अस्त्र शस्त्र बनाना (27) कृषि के औजार बनाने वाले (28) घोड़े हाथी ओर रथ ।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र[3] मे प्रशासन के भूमिगत विभागो - प्रान्तो (जनपदो) जिलो और अन्य क्षेत्रो के अधिकारियो तथा पूर्व वर्णित अट्ठारह तीर्थो के अतिरिक्त अनेक अधीक्षको के नाम दिए है और उनके कार्यो का विस्तृत विवेचन भी किया है । अर्थशास्त्र के प्रथम खण्ड के दूसरे अधिकरण मे जिसका शीर्षक अध्यक्ष प्रचार है । विभिन्न भागो ओर उनके मुख्य अधिकारियो तथा अधीक्षको का विस्तृत

1– के0पी0जायसवाल : हिन्दू पालिटी, पृ0–290
2– मैगेस्थनीज : इवैजन आफ इण्डिया बाई अलैक्जैण्डर (मैकृण्डल(15–1/46–50
रीज डेविड्स : बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ0- 265
कैम्ब्रीज हिस्ट्री आफ इण्डिया खण्ड 1, अ0 16, पृ0– 185
3– अर्थशास्त्र खण्ड–1 अधिकरण 2

विवरण है जिसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है ::–

1.	**अन्तपाल**	राज्य की सीमा का रक्षक ।
2.	**सन्निधाता** –	(कोषाध्यक्ष) इसको चाहिए कि वह कोशगृह, भण्डागार, कुप्यगृह, शस्त्रागार और कारागार का निर्माण कराये ।
3.	**समाहर्ता** –	इसका कार्य कर संग्रह का है ।
4.	**अक्षपटल** –	यह आय–व्यय का अध्यक्ष होता है ।
5.	**खदानों का अध्यक्ष**	
6.	**सुंवर्णाध्यक्ष** –	सोना, चांदी, तांबा आदि को जिस सथान पर शुद्ध करके उपयोग के योग्य बनाया जाता है । उसे अक्षशाला कहते हैं और उसका अध्यक्ष सुवर्णाध्यक्ष कहलाता है ।
7.	**कोष्ठागाराध्यक्ष** –	हर प्रकार के खाने की वस्तुओं को कोष्ठ कहते हैं । ये वस्तु जहां रखे जाते हैं उसे कोष्ठागार कहते हैं । कोश्ठा गार के अध्यक्ष को कोष्ठागाराध्यक्ष कहते हैं ।
8.	**पण्याध्यक्ष** –	उन सभी सरकारी वस्तुओं को जो बेची जाने वाली होती हैं उन्हें पण्य कहते हैं । ऐसी वस्तुओं को खरीदने और बेचने के लिए नियुक्त अधिकारी पण्याध्यक्ष कहलाता है ।
9.	**कुप्याध्यक्ष** –	चन्दन, बांस, पलाश, आदि सभी लकड़ीयां कुप्य कहलाती हैं । इन लकड़ियों की रक्षा के लिए एक अधिकारी नियुक्त किया जाता है जिसे कुप्याध्यक्ष कहते हैं ।
10.	**आयुधागाराध्यक्ष** –	शस्त्रों के रखने वाले जगह को आयुधागार कहते हैं । इसके प्रधान रक्षक को आयुधागाराध्यक्ष कहते हैं ।

11.	शुल्काध्यक्ष –	राजा की ओर से ली जाने वाली चुंगी को शुल्क कहते हैं । इस विभाग के अध्यक्ष को शुल्काध्यक्ष कहते हैं ।
12.	सूत्राध्यक्ष –	सूत कातने, बुनने की व्यवस्था और निरीक्षण करने वाले अधिकारी को सूत्राध्यक्ष कहते हैं ।
13.	सीताध्यक्ष –	कृशि के काम की जांच एवं व्यवस्था करने वाला अधिकारी सीताध्यक्ष कहलाता है ।
14.	सुराध्यक्ष –	शराब की संज्ञा सुरा से दी गयी है । इसके बनाने और बिकवाने की व्यवस्था करने वाले अधिकारी को सुराध्यक्ष कहते हैं ।
15.	सूनाध्यक्ष –	कसाईखाने को सुना कहा जाता था, उसकी देखरेख के लिए एक अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी जिसे सूनाध्यक्ष कहते हैं ।
16.	गणिकाध्यक्ष –	वैश्याओं को गणिका कहते थें, इनकी व्यवस्था एवं देख रेख के लिए गणिकाध्यक्ष नियुक्त किया जाता था ।
17.	नावाध्यक्ष –	नौकाओं (नावों) से कर वसूल करने वाला सरकारी अधिकारी होता था ।
18.	गौ–अध्यक्ष –	पशुओं की देख रेख करने वाला प्रधान अधिकारी ।
19.	अश्वाध्यक्ष –	राजा की घुड़साल के घोड़ों की रक्षा व निगरानी करने वाला अधिकारी ।
20.	हस्त्यध्यक्ष –	राजा के हाथियों का प्रधान प्रबन्धक ।
21	रथाध्यक्ष –	सेना के रथों का प्रधान प्रबन्धक ।

22. **पत्याध्यक्ष** – पैदल सेना का मुख्य अधिकारी ।

23. **मुद्राध्यक्ष** – सरकारी मोहर का नाम मुद्रा है, उसके बनवाने, रखवाने और कागजों पर उसे लगवाने के कार्यो को कराने वाला अधिकारी होता है ।

इस तरह विभिन्न ग्रन्थों और विभिन्न लेखकों के मतों का एकीकरण करके प्राचीन भारतीय विकसित प्रशासन पद्धति में प्रशासन विभाग और उनके मुख्य अधिकारी का विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है :::–

1. **राजमहल विभाग** –

इसके अधिकारी को शुक्रनीति [1] में सौधगेहाधिप कहा गया है इस विभाग के अनतर्गत दो विभाग और होते हैं, जिसमें

(क) राजवैद्य[2] – इसे शुक्रनीति में "आरामाधिप[3]" कहा गया है ।

(ख) कचुकी – यह अन्त:पुर का प्रबन्ध अधिकारी होता था, जो अवस्थामें वृद्ध और राजा का विश्वासपात्र होता था ।

2. **सैन्य विभाग** –

यह विभाग अत्यन्त ही महत्वपूर्ण होता था । इसके प्रमुख अधिकारियों में सेनापति या महा सेनापति या महाबलाधिकृत के अतिरिक्त अश्वपति, हस्त्यध्यक्ष, आयुधागाराध्यक्ष आदि थे ।

3. **परराष्ट्र विभाग** –

इसके मुख्य अधिकारी को "महासान्धिविग्रहिक" कहा गया है ।

1– शुक्रनीति, 2/119
2- अर्थशास्त्र, 10/4
3– शुक्रनीति, 2/119

4. **माल विभाग** –

इसके मंत्री के अधीन– सीताध्यक्ष, आरण्याध्यक्ष, विवीताध्यक्ष (ऊसर भूमि के लिए अधिकारी), कोषाध्यक्ष और अक्षपटल आदि होते है।

5. **आय–व्यय विभाग** –

इस विभाग के अनतर्गत राष्ट्रीय वार्षिक आय–व्यय का हिसाब रखा जाता था ।

6. **राज्य उद्योग एवं व्यवस्था विभाग** –

इसके अन्तर्गत सूत्राध्यक्ष, सूराध्यक्ष आदि अधिकारी काम करते थे ।

7. **पुलिस ओर गुप्तचर विभाग** –

राष्ट्रीय सेवा एवं आन्तरिक शांति स्थापित करने के लिए यह विभाग था ।

8. **राज्य की खानों का विभाग** –

राज्य की खानों की देखरेख हेतु यह विभाग था ।

9. **वाणिज्य विभाग** –

इसके अन्तर्गत पुण्याध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष आदि रहते हैं था ।

10. **न्याय विभाग** –

इसका मुख्य अधिकारी "प्राडविवाक" या प्रधान न्यायधीश था ।

11. **धर्म विभाग** –

यह पूरोहित एवं पंण्डितों के अधीन होता था ।

प्रशासनिक अधिकारी –

प्रशासन से सम्बन्धित अधिकारियें एवं कर्मचारियों की अनेक रेणियां थीं । अलतेकर ने अपना मत प्रशासन विभोग के अधिकारी एवं कर्मचारियों के प्रति इस प्रकार दिया है – "यह नहीं कहा जा सकता कि आज कल के अखिल भारतीय, प्रान्तीय और मातहत आदि भेदों की भांति उस समय के सरकारी

कर्मचारियों में भी ऊंची–नीची श्रेणिया होती थी या नहीं । फिर भी उनके मतानुसार सम्भव है कि आजकल के आई0ए0एस0 की भांति मौर्यकाल के "महामात्र" और गुप्तकाल के "कुमारामात्य" रहे हों । इस श्रेणी के कर्मचारी ही उस समय जिल या प्रादेशिक अधिकारी होते थे और कभी–कभी केन्द्रीय शासनकाल में उच्च पदों तथा कभी मंत्री पद पर भी पहुंच जाते थे ।[1] सारी स्थितियों को देखकर यह स्वीकारा जा सकता है कि प्राचीनकाल में प्रशासनिक अधिकारियों में भी कई वर्ग होते थे । मैगस्थनीज का वर्णन करते हुए स्ट्रेबो ने मौर्यकालीन प्रशासन पर प्रकाश डालते हुए, उनके अधिकारियों को तीन भागों में बंटा है जिसमें नगर अधिकारी, ग्रामीण अधिकारी ओर सैनिक अधिकारी होते थे ।[2] समीक्षा के तौर पर यह कहा जा सकता है कि शासनाधिकारियों में सबसे बड़ा मंत्री परामर्शदाता होता था, उसके बाद आमात्य ओर विभिन्न विभागों के अधीक्षक केन्द्रीय अधिकारियों के नीचे प्रान्तीय, फिर जिला नगर और ग्राम अधिकारी होते थे ।

अधिकारियों व कर्मचारियों की भर्ती अथवा नियुक्ति ::::–

प्राचीन भारत में अधिकारियों की भर्ती या नियुक्ति के लिए योग्यता को वरीयता दी जाती थी और यह भी कहना उपयुक्त होगा कि वह भर्ती दोषरहित होती थी । कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि छोटे–छोटे पदाधिकारियों का नाम युक्त है और उच्च पदाधिकारियों का नाम उपयुक्त है ।[3] सभी उच्च पदस्थ अधिकारियों को अमात्य गुणों से युक्त होना चाहिए । उन्हें उनकी शक्ति और योग्यता के अनुसार पदों पर नियुक्त किया जाता था । सभी प्रकार के कर्मचारियों को राजा उनकी विद्या, बुद्धि, साहस, गुण तथा देश–काल, पात्र का विवेचन करके अमात्य पद पर नियुक्त करें, परन्तु मंत्री कदापि न बनायें ।[4]

अमात्यों की भरती हेतु लिये जाने वाले परीक्षा के बारे में कौटिल्य ने लिखा है कि राजा अमात्यों को साधारण पदों पर नियुक्त करके मंत्री व पुरोहित के साथ निम्न तरह से उसकी परीक्षा ले ।[5]

1- अ0स0अलतेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ0– 177
2– स्ट्रेबो : कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, खण्ड 1, अ0 16
3– अर्थशास्त्र , 1/3/7
4– वही, 1/3/7/11
5– वही, 1/4/8

1. **धमोपधा** –

अर्थात्, धर्म के द्वारा अमात्य के हृदय की पवित्रता की परीक्षा ली जाये ।

2. **अर्थोपधा** –

अर्थात्, धन का लोभ देकर अमात्य की परीक्षा ली जाय ।

3. **कामोपधा** –

अर्थात्, स्त्री के साथ समागम कराकर परीक्षा ली जाय ।

4. **भयोपधा** –

गुप्त उपायों द्वारा अमात्य की शुचिता (पवित्रता) की परीक्षा ली जाय ।

कौटिल्य ने आगे यह भी लिखा है कि इस परीक्षा के अनुसार ही अमात्यों को विभाग दिया जाय । जैसे धर्मोपधा द्वारा ली गयी परीक्षा के अनुसार अमात्य को व्यवहार स्थापन और विवाद लिखने तथा व्यवसाय का कार्य देना चाहिए । जो अमात्य अर्थोपधा में खरा उतरा हो उसे कर वसूली और कोष का काम देना चाहिए । जिन व्यक्तियों को कामोपधा के बाद शुद्ध पाया जाता हे उसे रनिवास की रक्षा का सेवाभार सौपना चाहिए । और जो व्यक्ति भयोपधा के बाद शुद्ध पाया जाय उसे राजा का अंगरक्षक नियुक्त कर देना चाहिए और जिस व्यक्ति की परीक्षा सभी विधियों से ली जाय, और वह उसमें शुद्ध पाया जाय तो उसे मंत्री पद दे देना चाहिए । जो व्यक्ति सभी प्रकार की परीक्षा में विफल हो जाय उसे खदानों एवं जंगलों में काम देना चाहिए, जिससे उस व्यक्ति का जंगली जानवरों से सम्पर्क रहे और कार्य अधिक करना पड़े ।[1]आगे यह भी परामर्श दिया गया है कि काम, अर्थ, धर्म, एवं भय आदि द्वारा परीक्षा किये जाने पर पवित्र अमात्यों को यथायोग्य पदों पर नियुक्त किया जाय ।[2]परन्तु डा0 घोषाल के अनुसार कौटिल्य का मत

1– अर्थशास्त्र, 1/4/10
2– वही, 1/8/10

है कि अमात्यों की परीक्षा में राजा अपने को और रानी को परीक्षक न बनावें । इसलिए उपर्युक्त चारों उपायों में राजा किसी बाह्य व्यक्ति को अधिष्ठान बनाकर गुप्तचरों द्वारा अमात्यों की अच्छाई–बुराई का पता लगावे ।[1]डा0 राधाकुमुद मुकर्जी ने मौर्यकालीन प्रशासन के विषय में लिखा है कि – मंत्री–परिषद के सदस्यों को छोड़कर अन्य सभी अधिकारियों की नियुक्ति राजा द्वारा अपने मंत्रियों – प्रधान मंत्री और पुरोहित की सहायता से की जाती थी । इस प्रकार राजा और उन दोनों मंत्रियों से मिलकर एक अन्तरंग परिषद बनी होती थी, जो एक प्रकार के लोक सेवा आयोग की भांति काम करती थी । वह परिषद प्रशासन के उच्च पदों तथा विभागों के अध्यक्षों को नियुक्त करती थी । ये नियुक्तियां अमात्य पद के लिए योग्य अम्मीदवारों में से मानसिक एवं नैतिक योग्यताओं के आधार पर की जाती थी । उनकी चारों प्रकार की प्रलोभनों – धम्र, अर्थ, काम और भय से सम्बन्धित परीक्षा ली जाती थी । [2]

सैन्य संगठन एवं सैन्य पदाधिकारी :::–

यौद्धिक कार्यवाही में सफलता प्राप्त करने के लिए सेना को सही ढग से प्रशिक्षित एवं संगठित किया जाता है ।' प्राचीन भारतीय आचार्य, इस तथ्य से पहले ही परिचित थे । इसको स्पष्ट प्रमाण महाभारत वैश्म्पायन की नीति प्रकाशिका कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा शुक्र के नीतिसार आदि देते है महाभारत के उद्योग पर्व का उल्लेख करते हुए अम्बिका प्रसाद बाजपेयी ने लिखा है कि महाभारत मे विभिन्न प्रकार के सैन्य सुसगठन था । जो समयानुसार परिवर्तित भी कर लिया जाता था ।[3]योद्धा को समर मे अच्छी कार्यवाही के लिए पदोन्नति भी दी जाती थी ।[4]नीति प्रकाशिका मे महाभारत से कुछ भिन्न सैन्य सगठन था लेकिन सैन्य सगठन उपयुक्त था ।[5]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे सैन्य सगठन का विवरण इस प्रकार दिया गया है । दस

1– यू0एन0 घोषाल : हिस्ट्री आफ इण्डियन पालिटिकल आइडियाज, पृ0– 123
2– आर0के0 मुकर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स पृ0–81
3– अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : हिन्दू राजशास्त्र पृ0– 270–71
4– शान्तिपर्व 100/31
5– वैश्प्यायन : नीतिप्रकाशिका, 7/9–11 27–30

सैनिकों पर एक पदिक अधिकारी रखा जाता था । दस पादिक अधिकारियों पर एक सेनापति और दस सेनापति पर एक नायक । यानि दस सैनिकों की सबसे छोटी टोली होती थी ।[1]दिक्षितार का कहना है कि दस सैनिकों की जो सबसे छोटी टोली थी उसका नायक या अध्यक्ष पदिक कहलाता था ऐसे दस टोलियां अर्थात सौ सैनिकों का अध्यक्ष सेनापति कहलाता था । और इस जैसे दस दलों में यानि एक हजार सैनिकों का बड़ा दल का अध्यक्ष नायक कहलाता था ।[2]लेकिन उदयवीर शास्त्री ने अर्थशास्त्र की टीका करते हुए लिखा है कि दस सैनिकों का अधिकारी पदिक कहलाता था लेकिन सेनांग में रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सैनिक सभी सम्मिलित होते थे । इनका कहना है कि कौटिल्य ने दूसरे स्थल पर एक रथ और हाथी के साथ पांच–पांच घुड़सवाल और प्रत्येक घुड़सवाल के साथ तीन पैदल सैनिक नियुक्त किये जाते थे, ऐसा उल्लेख किया है ।[3]इस प्रकार दस सैनांगों का अर्थ इस प्रकार लगया जा सकता है । दस रथ, दस हाथियों के साथ सौ घोड़े और तीन सौ पैदल किया जा सकता है । अब यह कहा जा सकता है कि इतने बड़े संगठन का मालिक पदिक कहलाता है ।

तालिका

अधिकारी	रथ	हाथी	घोड़े	पैदल	योग
पदिक	10	10	100	300	420
सेनापति	100	100	1000	3000	4200
नायक	1000	1000	10000	30000	42000

शुक्र ने भी अपने शुक्रनीति में पैदल सैनिकों का सही एवं उपयुक्त संगठन किया था, जिसका उल्लेख किया गया है ।[4]

1– अर्थशास्त्र, 10/6/45–48 2– दीक्षितार : वार इन एसियेन्ट इण्डिया पृ0–231
3– अर्थशास्त्र, 10/5/10511 टीकाकार उदयवीर शास्त्री
4– शुक्रनीति, 2/139–141

सैनिक अधिकारी ::–

ऐसा विश्वास करना अनुचित न होगा कि वैदिक काल में राजा स्वयं सेना का युद्ध क्षेत्र में नेतृत्व करता था और उसके द्वारा नियुक्त सैनानी उसकी सहायता करता था । यह कहना उचित ही होगा कि इन सेनानियों को छोटे–मोटे युद्धों में भाग लेने के लिए भेजा जाता रहा होगा । एक अन्य सैनिक अधिकारी ग्रामीणी होता था जो एक छोटे सैनिक भाग का नेतृत्व करता था और उसके साथ पुरोहित भ‍े जाता था । उत्तरवैदिककाल में सेनापति सेना का मुख्य अधिकारी रहा ।[1] उसको परामर्श व सहायता देने के लिए एक युद्ध परिषद होती थी । इस बात का समर्थन रामायण में रावण की युद्ध परिषद के वर्णन से होता है । महाभारत में यह बताया गया है कि सेनापति में क्या गुण होने चाहिए ? भीष्म ने स्वयं कौरव सेना का अधिपत्य स्वीकार करते हुए कहा है कि "मैं युद्ध विद्या और विविध प्रकार की व्यूह रचा जानता हूं । मैं मृतकों और अमृतकों से काम लेना भी जानता हूं । मैं तुम्हारी सेना की रक्षा करता हुआ, युद्ध विद्या के अनुसार शत्रु से युद्ध करूंगा ।[2]

कौटिल्य का कथन है कि सेना के चारों अंगों के जो कुछ कार्य बताए गये हैं वे सभी सेनापति को जानने चाहिए ।[3] वे सब प्रकार के युद्धों और शस्त्रास्त्रों को चलाने में कुशल, विद्याओं में में विनीत, हाथी, घोड़े, रथ आदि के चलाने में चतुर होना चाहिए और अपनी चुरंगिणी सेना के कार्यो तथा स्थानों के विषय में पूर्ण जानकारी रखनी चाहिए । इसके साथ ही सेनापति को अपनी भूमि, युद्ध का समय, शत्रु की सेना, शत्रु का व्यूह भेदन, बिखरी हुई अपनी सेना को एकत्री करण शत्रु के दुर्ग को तोड़ना, यात्रा का समय विचार करके कार्य करना चाहिए । सेनापति को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हमारी सेना पड़ाव डालने और चढ़ाई करने में ही नहीं, अनुशासन में भी ठीक रहे और तुरही, ध्वज व झण्डियों के नाम

1– मजूमदार, राय, चौधरी एवं दत्ता : एन एडवांस्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ0–29–30 । तथा दि इनसाइक्लोपीडिया आफ मिलिटरी हिस्ट्री, पृ0– 35

2– महाभारत, 3/6

3– अर्थशास्त्र, 2/33

पर व्यूहो के नाम भी उसे ध्यान मे रखने चाहिए ।[1]कौटिल्य ने सेनापति के नीचे बलाध्यक्षो पत्याध्यक्षो अश्वाध्यक्षो और हस्त्याध्यक्ष को रखा है[2] शुक्रनीति मे 5/6 पैदल सैनिको का अधिकारी पक्षिपाल और 30 का गुल्मक बताया है । [3]

सर्वोच्च नायक

सेना का सर्वोच्च नायक 'राजा' होता था । क्योकि प्राचीन भारत मे राजा को प्रजा का सेवक[4] तथा उसके हितो का थाती भी कहा गया है[5]। बी0के0 सरकार के एक टिप्पणी के अनुसार राजा का पद सार्वजनिक पद था और राजा की महानता उसके सर्वोच्च पद के कारण थी अन्यथा राजा भी अन्य मनुष्यो की भाति ही होता था । राजा इसी अर्थ मे स्वामी था कि वह प्रजा के हितो की रक्षा करता था और दुष्टो को दण्ड देता था । शुक्र ने तो राजा की स्थिति को दासत्व बताया है । ब्रम्हा ने शासक को जनता का सेवक बताया है । उसकी आय उसकी सेवा का पारिश्रमिक था । इस प्रकार नीतिशास्त्रो का राजा जनता की थाती है. बौद्धायन के अनुसार वह केवल सेवा के लिए पारिश्रमिक पाने वाला है और मनु के अनुसार स पर जुर्माना भी किया जा सकता है ।[6]प्राचीन भारत मे राजा के बारे मे दो धारणाए थी । एक प्राचीन धर्मसूत्र प्राचीन भारत में राजा के बारे में दो धारणाएं थीं । एक प्राचीन धर्मसूत्र लेखक बौद्धायन का कथन है कि राजा वास्तव में प्रजा का सेवक है और प्रजा की आय का छठा भाग जो कर में दिया जाता था। वही उसका वेतन था । नारद भी कर को राजा द्वारा प्रजा की रक्षा का पारिश्रमिक कहते हैं । कालिदास के रघुवंश में कहा गया है कि राजा दिलीप प्रजा पर कर केवल उसकी समृद्धि के प्रयोजन से लगाता था ।[7] मनु के अनुसार राजा ही अपने निवास और दुर्ग का स्थान छांटता था । क्षत्रिय होने के नाते यह उसका महत्वपूर्ण कर्तव्य था कि

1- वही
2. वही, 2/34
3. शुक्रनीति, 5/6
4. बौधायनधर्मसूत्र, 1/10/6
5. शुक्रनीति, 4/2/3-5
6. बी0के0सरकार : दि पालीटिकल इंस्टीटयूशन्स एण्ड थ्योरीज आफ दि हिन्दूज, पृ0- 175-76
7. डी0के0 गार्डे : पेपर आन द सोशल एण्ड पालिटिकल थाट आफ कालीदास पृश्ठ- 6

वह युद्ध करे और युद्ध के मैदान से डर कर न भागे ।[1]युद्ध मे प्राप्त लूट का वितरण भी वही करता था वह सेना का निरीक्षण करता था । और उच्च सैनिक अधिकारियो को भी नियुक्त करता था । कौटिल्य के अनुसार राजा ही सेना का सर्वोच्च सेनापति होता था उसे प्रतिदिन सेना के अगो का निरीक्षण करना होता था ।[2] शुक्र और कौटिल्य ने राजा के कार्यों को समय के अनुसार बाट दिया है । इन लोगों ने रात और दिन में से प्रत्येक को आठ भागों में बांट कर राजा के कर्तव्यों को अलग–अलग विभाजित कर दिया है । कार्यक्रम का संक्षिप्त रूप इस प्रकार दिया जा सकता है –

कौटिल्य के अनुसार

समय	दिन कार्य
6–7.30 तक	आय व्यय का निरीक्षण
7.30–9	नागरिक एवं जनता के मामले
9–10.30	नहाना, वेदोच्चारण, खाना
10.30–12	राज्याधिकारियों के मामले
12–1.30 तक	मंत्री गूप्त प्रतिनिधि से विचार
1.30–3 तक	आराम, मनोरंजन
3–4.30	सेना का निरीक्षण
4.30–6 तक	शत्रु और सैनिक मामले
रात्रि	
6''7.30	गुप्तचर विभाग के अधिकारियों से वार्ता
7.30–9	नहाना, खाना, प्राथना
9–11.30	संगीत और अगले दिन के विषय में विचार
3–4.30	राज्य के अन्य कार्य
4.30–6	आचार्य, पुरोहित आदि द्वारा आर्शीवाद

शुक्र के अनुसार

समय	दिन कार्य
3–4.30 तक	हिसाब का निरीक्षण
4.30–7.30	नहाना, प्रार्थना, शारीरिक व्यायाम
7.30–11.15	सरकारी कार्य
11.15–12.45	खाना, आराम अध्ययन
12.45–2.15	न्याय और परिषद
2.15–3.45	शिकार
3.45–4.30	सेना की परेड
4.30–6 तक	संध्या प्रार्थना, भोजन
रात्रि	
6–7.30	गुप्तचरों के प्रतिवेदन
7.30–3 तक	आराम और सेना

---

1. मनुस्मृति, 7/97, 7/88, एवं 7/89
2. अर्थशास्त्र, 1/19

निष्कर्ष के तौर पर कौटिल्य ने यह कहा है कि प्रजा के सुख मे राजा का सुख है और प्रजा के दु ख मे राजा को दु ख है राजा को अपने हित की बात नही सोचनी चाहिए, प्रजा के हित मे ही उसका हित है ।[1]प्रजा शब्द से प्रजाजन और सन्तान दोनो अर्थ लिए जा सकते है । दूसरी कलिंग घोषणा में अशोक कहता है कि उसका अपनी प्रजा में वैसा ही हित है जैसा कि पिता का अपनी सन्तान में [2] अतः राजा पर ही सारी सैनिक कार्यवाही निर्भर करती है । प्रजा के सुख–दुःख के लिए उसे बाह्य आक्रमणों से रक्षा करनी पड़ती है । इस तरह वह युद्ध के लिए कटिबद्ध होता है ।

पुरोहित तथा प्रधानमंत्री :–

प्राचीन भारत में शासन पद्धति का प्रचलित रूप राजतंत्र था, किन्तु राजा निरंकुश नहीं था । सभी आचार्यो ने राजा के लिए मंत्रणा पर बल दिया है ।[3] अर्थववेद में कहा गया है कि राष्ट्र की स्थिरता एवं उन्नति हेतु यह आवश्यक है कि उसका शासन ज्ञानीजन के परामर्श से चले ।[4] महाभारत के अनुसार राजाओं की विजय मंत्रियों के परामर्श पर ही आश्रित होती थी ।[5] मनु ने तो ऐसे राजा को मुर्ख बताया है जो प्रशासन अपने आप करता है और वह ऐसे राजा को अयोग्य मानता है । उसने यह भी उल्लेख किया है कि राजा के सहयोगी अर्थात मंत्री होने चाहिए और उनके परामर्श से ही उसे साधारण या असाधारण कार्य करने चाहिए ।[6] वास्तव में कोई साधारण कार्य भी किसी व्यक्ति द्वारा अकेले नहीं किया जा सकता । राज्य के कार्य संचालन के विषय में तो ऐसा करना सम्भव ही नहीं ।[7] याज्ञवल्क्य का भी यही मत है कि राजतंत्र के सबसे बड़े समर्थक कौटिल्य ने भी कहा है कि राज्य के मामलों पर विचार मंत्रीपरिषद द्वारा किया जाना चाहिए और मंत्री परिषद के बहुमत द्वारा जो भी निर्णय किया जाय, राजाको उसके कार्यान्वित

---

1. अर्थशास्त्र, 1/19/39
2. चार्ल्स ड्रेकमेयर : किंगशिप एण्ड कम्यूनिटी इन अर्ली इण्डिया, पृ0–225
3. अर्थशास्त्र, 1/6/2(4) 4. अथर्ववेद 3/24/5

8xx शुक्रनीति 2/1, 2/15 तथा मनुस्मृति 8/53

5. महाभारत 5/37-38 6. मनुस्मृति 8/53
7. बी0ए0 सेलटोर : एसियेन्ट इण्डियन पोलिटिकल थाट एण्ड इन्स्टीटयूशन्स पृ0– 354

करना चाहिए । इसी आधार पर डा0 जायसवाल ने लिखा है कि हिन्दू संविधान का यह कानून सिद्धान्त है कि राजा मंत्री परिषद की स्वीकृति व सहयोग के बिना कार्य नही कर सकता । [1]

कौटिल्य का कथन है कि राज्य रूपी रथ राजा रूपी एक पहिये मे नही चल सकता राज्य के संचालन हेतु दूसरे पहिये की आवश्यकता पड़ती है । अन्यत्र भी कहा गया है कि मंत्री राजा की आखे है अत दो नेत्र वाला इन्द्र भी सहस्राक्ष कहलाता है क्योंकि उसकी मंत्री परिषद मे सहस्र ऋषि है । कौटिल्य ने मंत्रियो की आवश्यकता को एक और नये रूप से बताया है । राजकार्य सहायसाध्य है क्योंकि राजा के कार्य तीन प्रकार के होते है प्रत्यक्ष परोक्ष और अनुमेय । अपना देखा हुआ प्रत्यक्ष, दूसरो से जाना हुआ परोक्ष और किये या न किये कार्यो पर ध्यान देकर जो अनुमान किया जाय वह अनुमेय कहा जाता है । राजा के कार्य अनेक प्रकार के होते है और सब एक समय एव स्थान मे नही होते । इस कारण स्थान व समय का अतिक्रमण न होने देने के लिए परोक्ष कार्य दूसरो से कराया जाता है । ये दूसरे व्यक्ति ही महामंत्री कहलाते है और इनका कार्य अमात्य कर्म कहलाता है ।[2]

शुक्रनीति मे भी कहा गया है कि मंत्रियो के बिना राजा को अकेले ही राज्य के मामलो पर विचार नही करना चाहिए चाहे वह सभी शास्त्रो व नीति का विशेषज्ञ ही क्यो न हो बुद्धिमान राजा को अधिकारियो तथा मंत्रियो की परिषद के मत का पालन करना चाहिए । बृहस्पतिसूत्र मे तो यहा तक कहा गया है कि राजा को अच्छा कार्य (धर्म) भी बुद्धिमानो के परामर्श से करना चाहिए । अग्निपुराण व मत्स्यपुराण में भी राजा को यह परामर्श दिया गया है कि उसे राज्य की नीति का अकेले ही निर्णय नहीं करना चाहिए । द्रोण भारद्वाज का कथन है कि जो राजा हितैषी मंत्रियों का कहनानहीं मानता

---

1. के0पी0 जायसवाल, हिन्दू पोलिटी, पृ0– 276–77
2. अर्थशास्त्र, 1/7–8

वह सिंहासन पर बहुत दिन तक नहीं रहता, चाहे उसके बाप–दादों का ही राज्य क्यों न हो ।[1]

अलतेकर ने लिखा हैं कि सुशासन के लिए मंत्रियों का होना इतना आवश्यक समझा जाता था कि युवराज और प्रान्तो के शासक भी मत्री परिषद नियुक्त करते थे । मौर्य साम्राज्य मे तक्षशिला मे एक प्राताधिकारी की मत्रीपरिषद थी. पुष्पमित्र के युवराज और मालवा के प्राताधिकारी की भी मत्रीपरिषद थी । गुप्त राज्य मे युवराज के मंत्रिये को 'युवराजपदीय कुमारामात्य' कहते थे ।[2] मंत्रियो के अधिकार क्षेत्र का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है ::–

(1) राज्य की नीति पर मनन मंत्र,
(2) उस नीति के परिणाम को प्राप्त करना
(3) राज्य के कार्य करना
(4) आय और व्यय सम्बन्ध कार्य
(5) सेना एवं युद्ध
(6) शत्रुओं से रक्षा
(7) शासन को बनाये रखना
(8) राष्ट्रीय पतन न हो, इस प्रकार की व्यवस्था करना
(9) राजपुत्रों की रक्षा आदि

भारद्वाज द्वारा बताया गया "मंत्र" मैगस्थनीज द्वारा दिये गये सार्वजनिक मामलों पर मनन से मिलता है ।[3] बेनी प्रसाद के अनुसार जाताकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कुछ परिस्थितियों में मंत्रीं यह भी निर्णय करते थे कि होने वाले राजा में शासन करने की क्षमता है या नहीं । और यदि वह अयोग्य होता था तो वे स्वतंत्रतापुर्वक अवश्य निर्णय ले लेता था । मनु ने भी कहा है कि राजा को प्रतिदिन अपने मंत्रियों से शान्ति, युद्ध, वित्त और सामान्य प्रशासन के विषय में मंत्रणा करनी चाहिए ।[4]

---

1. अम्बिका प्रसाद, बाजपेयी :: हिन्दू राज्यशास्त्र, पृ0– 144
2. अ0स0अलतेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ0–137
3. के0पी0जायसवाल : हिन्दू पोलिटि पृ0– 298–99
4. बेनी प्रसाद : द स्टेट इन एंसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 129, 242

बहुत आचार्यों ने पुरोहित एवं मंत्री को एक ही स्थान पर माना है । शासन की योजना में महत्त्व और मांग की दृष्टि से पुरोहित का स्थान किसी अन्य मंत्री से नीचा न था । सूत्रों में भी वर्णन किया गया है कि राजा के कल्याण के लिए पुरोहित का होना आवश्यक था । शान्तिपूर्व के अनुसार राजा का विकास और रक्षण पुरोहित पर निर्भर करते थे । पुरोहित सदैव ही राजा के निकट रहता था परन्तु ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि राजा नगर छोड़ कर युद्ध में जाता था तो वह नगर का भार पुरोहित पर छोड़ कर जाता था ।[1] पुरोहित के कार्यों पर प्रकाश डालते हुए शेन्डे ने लिखा है कि "पुरोहित राजा का वह अधिकारी है जो राजा के थार्मिक, नैतिक और राजनैतिक कल्याण का ध्यान रखता है और युद्ध एवं शान्ति में राजा के साथ रहता है । वह प्रतिदिन राजा परजल छिड़कता है और उसके साथ मंत्र पढ़ता है, जिससे राजा के शरीर को एक प्रकार का कवच मिलता है ओर उससे राजा की दिन भर रक्षा होती है । वह राजा की समृद्धि तथा उसे एक मात्र योद्धा व प्रभु बनाने के लिए प्रार्थना करता है, जिससे कि वह सभी शत्रुओं का संहार कर प्रमुख स्थान प्रापत कर सके । पुरोहित जनत से कहता है कि वह ग्राम, कस्बे, गावों और घोड़ों का एक अंश राजा को प्रदान करे । उसने आगे लिखा है कि रणक्षेत्र में युद्ध जीतने में जितना योग वीरों का होता है उतना ही पुरोहित के जादू-टोने अथवा जादू भरे कार्यों का है । वह युद्ध और शान्ति दोनों में ही राजा का अनिवार्य सहयोगी है । उसका ब्रम्हबल और शारीरिक बल क्षत्रिय का नेता है । इसके अतिरिक्त वह राजा का प्रचार अधिकारी भी है । और जनता के मनोबल को बहुत ऊंचे स्तर पर रखता है ।[2]

इस प्रकार प्राचीन भारतीय शासन में पुरोहित का बड़ा ही ऊंचा पद रहता है । वह राजा के राजनैतिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय कार्यों में मंत्रणा देता था । पुरोहित राजनैतिक अधिकारी के साथ ही सैनिक पदाधिकारी भी होता था । इसका स्थान सर्वोच्च नायक अथवा राजा के बाद होता था । एक जगह

---

1. आपस्तव श्रोतसूत्र, 20/2-12/ 3/13
   बोधायन श्रोतसूत्र, 18/4
2. एन0जे0 सेन्डे : दि रिलीजन एण्ड दि फिलासोफी आफ दि अथर्ववेद, पृ0- 82-87

ऐसा उल्लेख है कि राजा के रथ पर पुरोहित पश्चिम की तरफ खड़ा होकर युद्ध विजय के लिए मंत्र उच्चारण करता था ।[1] कौटिल्य के समय के पुरोहित की स्थिति के बारे में कुलश्रेष्ठ ने लिखा है कि कौटिल्य के समय में प्रधान मंत्री का स्थान पुरोहित से पहले समझा जाने लगा था । प्रधान मंत्री की योग्यता कौटिल्य ने उसे घोड़े, हाथी, पर चढ़ने, रथ चलाने, सभी शास्त्रास्त्रों के प्रयोग और सामरिक कला का पूर्ण ज्ञाता होना बताया है । इससे स्पष्ट है कि प्रधान मंत्री भी युद्ध क्षेत्र में भाग लेता होगा और यौद्धिक मामलों में राजा को मंत्रणा देता होगा । कौटिल्य स्वयं चन्द्रगुप्त का मंत्री था जो यौद्धिक कार्यो का स्वयं संचालन करता था ।[2]

प्रधान मंत्री का वेतन ::–

वेतन के बारे में कौटिल्य ने लिखा है कि राज्य के सभी वैतनिक अधिकारियों में मंत्रियों का वेतन सबसे अधिक होना चाहिए । मंत्री को 48000 पण दिये जाने चाहिए ।[3] यहां यह बात समझ में नहीं आती कि यह वार्षिक अथवा मासिक वेतनदर है । इसका उत्तर विभिन्न लेखकों ने दोनों रूपों में दिया है । जबकि एन0एन0 ला ओर रंगास्वामी अयंगर इसे मासिक मानते हैं, शामशास्त्री इसे वार्षिक बताते हैं । सेलेटोर ने शामशास्त्री के मत का समर्थन किया है ।[4]

सेनापति (कमाण्डर इन चीफ)

वैदिक काल से पूर्व आर्यो का सामाजिक और राजनैतिक संगठन जनों में था ।[5] जब ये भ्रमण करने वाली टोलियां किन्हीं स्थानों पर स्थायी रूप से रहने लगे तब इनकी बस्तियां "विश" कहलायी, विश शब्द की उत्पत्ति ही विश अर्थात् प्रवेश करने अथवा बसने से है । विशः के निवासियों का प्रमुख

---

1. आश्वलायनगृहसूत्र, 3/12
2. मेजर आर0सी0 कुलश्रेष्ठ : भारतीय सैन्य विज्ञान, पृ0– 274
3. अर्थशास्त्र, 5/3
4. बी0ए0 सालेटोर: एसियेन्ट इण्डियन पोलिटिकल थॉट एण्ड इंस्टिट्यूशन्स, पृ0– 349
5. एतेरेयब्राम्हण, 8/3/14

विशपति कहलाया । बन्धोपाध्याय के मतानुसार विशः एक प्रकार का सैनिक संगठन था । विशः अनेक ग्रामों का समूह होता था । प्रत्येक ग्राम का मुखिया ग्रामिणी कहलाता था । ग्राम आर्यो का सबसे छोटा सामाजिक व राजनैतिक समुदाय था और जन सबसे बड़ा समुदाय था ।[1] युद्ध करने के लिए ग्रामिणी के नेतृत्व में सभी ग्रामवासी युद्ध क्षेत्र तक जाते थे ।[2] कालान्तर में ग्रामों का संघ बनने लगा, जिसके कारण शासन व्यवस्था एक शासक के हाथ में चला गया । अब सैनिक टोली का नायक ग्रामिणी न होकर सैनानी हो गया । ग्रामिणी केवल अपने ग्राम की सैनिक टोली का ही नायक रहा । वैदिक साहित्य में यह उल्लेख मिलता है कि "सेनानी" सेना का नेता होता था, जिसकी नियुक्ति राजा द्वारा होती होगी ।सम्भवतः यह राजा के बाद दूसरा सैन्य अधिकारी समझा जाता था । ग्रामणी प्रशासन व सैनिक कार्यो के लिए ग्राम का नेता अथवा मुख्य व्यक्ति होता था और राज्य में उनकी संख्या बड़ी होती होगी । राजा के वरण करने वालों में रथकार, कर्मकार व सूत (सारथी) आदि थे । वे सभी प्रशासन कार्यो में राजा को सहायता देते थे ।[3] डा0 राधाकुमुद मुकर्जी ने पुरोहित सेनानी व ग्रामणी को वैदिक राजा के मंत्री कहा है । राजा के मंत्रियों में एक ही ग्रामणी का उल्लेख आया है, जो सम्भवतः ग्राव की जनता ओर उनके हितों का प्रतिनिधि था ।[4] शतपथ ब्राम्हण में राजा बनाने वाले रत्नियों में सेनानी को प्रथम स्थान दिया गया है ।[5] इन अधिकारियों को प्रो0 अलतेकर ने राजा का मंत्रीमण्डल कहा है । उन्होने लिखा है कि रत्नियों की एक समिति राज्य संचालन में राजा की मदद करती थी, जिसमें राजा के कुछ दरबारी व उच्च कर्मचारी रहते थे । रत्नियों में जो संग्रहीता था वह कोषाधिकारी होगा, व जो भागधुक था वह कर वसूल करने वाला मुत्थाधिकारी या अर्थशास्त्र का समाहर्ता था । इस समय के दूसरे उच्चाधिकारी में सेनापति, रथाधिकारी,प्रतिहारी व ग्रामणी का उल्लेख करना उचित होगा । रत्नियों में का अक्षावाय राजा का

---

1. एन0सी0 बन्धोपाध्याय : डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू पोलिटी एण्ड पोलिटिकल थ्योरीज, पार्ट–1, पृ0–54–60
2. तैत्तिरीयसंहिता, 2/5/44
3. अनंतसदाशिव अलतेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ0– 237–39
4. डा0 राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता, (अनु0 वासुदेवशरण अग्रवाल(
5. शतपथब्राम्हण : 5/3/1

जुआ खेलने का समय का साथी होगा ।[1] रावण की सेना का प्रधान अधिकारी प्रहस्त था ।[2] महाभारत एवं रामायण काल के आते–आते सेनानी का स्थान सेनापति ने लिया ।[3] महाभारतकाल में कौरव सेना के सेनापति भीष्म थे ।[4]

मौर्यकाल तक सेना का मुख्य अधिकारी सेनापति ही रहा । कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इसे दो नामों से इंगित किया है । एक जगह सेनापति को कमाण्डर–इन–चीफ के रूप में प्रस्तुत किया है और दूसरी जगह इन्होने सेनापति का स्थान पदिक और नायक के बीच में रखा है ।[5] इस तरह के वर्णन से एक भ्रम पैदा होता है लेकिन यह भ्रम उस वक्त दूर हो जाता है जब इसे (सेनापति) अठारह तीर्थो में स्थान दिया गया और यह राजा, मंत्री व पुरोहित के बाद तीसरे स्थान पर रखा गया । वेतन के मामले में लगभग एकरूपता देखी गयी । इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि सेनापति को ही कमाण्डर–इन–चीफ के नाम से जाना जाता है । समयानुसार यह नाम बदलता भी रहा । कमाण्डर–इन–चीफ को ही प्रधान सेनापति, सर्व, सेनापति, महासेनापति एवं महाबलाधिकृत आदि नामों से सम्बोधित किया गया । मेजर आर0सी0कुलश्रेश्ठ ने लिखा है कि शकों की सेना का प्रमुख पदाधिकारी महासेनापति कहलाता था । मौर्य राजा वृहद्रथ की सेना का प्रधान नायक पुष्यमित्र शुंग प्रधान सेनापति था । सेनापति का स्थान भारतीय सेना में प्रमुख रहा है । कुछ विद्वानों के मतानुसार यह राजा की मंत्रीपरिषद का सदस्य भी होता था ।[6] इसके कर्तव्य और अधिकारों पर भी भारतीय विद्वानों ने प्रकाश डाला तो इसकी योग्यता एवं नियुक्ति का भी स्पष्ट वर्णन भारतीय इतिहासों से मिलता है ।

---

1. अ0स0 अलतेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ0– 282
2. युद्धकाण्ड, 12/1–2
3. शान्तिपर्व, 85/31
4. उद्योगपर्व, 151/3–8 और 156/10-13
5. अर्थशास्त्र, 1/12/8 और 5/3/4 एवं 10/6/46/48
6. मे0आर0सी0 कुलश्रेष्ठ : भारतीय सैन्य विज्ञान, पृ0– 275

योग्यता :::–

प्राचीन भारतीय आचार्यो ने सेनापति की योग्यता पर विशेश ध्यान दिया है । आचार्यो के अनुसार सेनापति को यौद्धिक क्रिया–कलाप में निपुण होना चाहिए । बौद्धिक गुणों का समावेश उसके अन्दर इतना हो कि वह किसी विपदा का तुरन्त सामना, नई योजना के अनुसार कर सके । वह यौद्धिक क्रियाओं में आगे–पीछे हटने की कला तथा व्यूह रचना आदि का जानकार हो । वह सही ढंग से सैनिकों पर नियंत्रण कर सके तथा सैनिकों को सही दिशा निर्देश दे सके, ऐसी सक्षमता हो । वह युद्ध–कला तथा शस्त्रास्त्र का अच्छा ज्ञाता हो । क्योंकि महाभारत के उद्योगपर्व में भीश्म ने सेनापति पद को स्वीकार करने के उपरान्त युद्ध परिषद में अपना भाषण देकर, सेनापति की योग्यता पर विशेष प्रकाश डाला है । उन्होने कहा था कि मैं युद्ध विद्या और अनेक प्रकार के व्यूहों की रचना का ज्ञाता हूं, मैं विभिन्न वर्ग के मृतक और अमृतक सैनिकों का नियंत्रण करना और उन्हें निर्देशित करना जानता हूं । मैं युद्ध के समय आगे बड़ने तथा पीछे हटने की कला व्यूह रचना के अनुसार जानता हूं । मैं विद्धत्ता में वृहस्पति के समान हूं, साथ ही विभिन्न क्षेत्रों एवं यौद्धिक कलाओं का ज्ञाता हूं । [1] इस तरह महाभारत सेनापति की योग्यता पर विधिवत प्रकाश डालता है, साथ ही यह भी बताता है कि सेनापति को सैन्यशास्त्र के साथ अन्य शास्त्रों का भी ज्ञाता होना चाहिये । आचार्य कौटिल्य ने सेनापति की योग्यता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि वह अश्वाध्यक्ष से लेकर पत्यध्यक्ष तक के सम्पूर्ण कार्य–व्यापार को भलीभांति समझे, सेनापति को हर प्रकार के युद्ध करने, हथियार चलाने और आन्वीक्षिकी आदि शास्त्रों में पारंगत होना चाहिए, हाथी, घोड़े, रथ चलाने की भी पूरी योग्यता उसमें होनी चाहिए । चतुरंगिणी सेना के कार्य और स्थान की भी उसे पूरी जानकारी होनी चाहिए तथा सेनापति क्षत्रिय

---

1. महाभारत, उद्योगपर्व– 165/8–10

वर्ण का होना चाहिये ।[1] लेकिन कहीं–कहीं पर ऐसा पाया गया है कि इस पद को ब्राम्हण वर्ग के लोग भी सुशोभित करते थे । बृहद्रथ का सेनापति पुष्यमित्र शुंग ब्राम्हण ही था । शुक्र ने लिखा है कि अगर कोई योद्धा वीर परामक्रमी हो और वह अन्य किसी वर्ण का हो तो भी उसे सेनापति बनाया जा सकता है ।[2] कामन्दक का सन्दर्भ देते हुए कुलश्रेष्ठ ने लिखा है कि सेनापति को युद्धशास्त्र के सभी क्षैत्रों का ज्ञाता, चतुरंग बल के कार्यो से परिचित, शत्रु सेना से अपनी सेना की रक्षा करते हुए शत्रुओं को पराजित करने की शक्ति वाला होना चाहिए था ।[3]

नियुक्ति ::–

मौर्य काल से पहले सेनापति की नियुक्ति प्रायः अस्थायी रूप में होती थी महाभारत में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो यह बताते हैं कि युद्ध प्रारम्भ होने के कुछ पहले प्रधान सेनापति नियुक्त किया जाता था । यह नियुक्ति प्रायः युद्ध परिषद में उपस्थिति सभासदों द्वारा नाम प्रेषित करने तथा उसे सर्वसम्मत से मान्यता देने पर होती थी । क्योंकि घृष्टद्युम्न का प्रधान सेनापति बनना एवं [4] भीष्म का प्रधान सेनापति बनना[5], उपरोक्त कथन को प्रमाणित करता है । यही पर एक उदाहरण ऐसा मिलता है जो इस बात को प्रमाणित करता है कि महाभारतकाल से पहले भी सेनापति या तो रहता ही नहीं था, या अस्थायी रूप में युद्धकाल के दौरान नियुक्त कर लिया जाता था । उद्योगपूर्व में ही राजा दुर्योधन ने अच्छी तरह जांच कर विशेष बुद्धिमान और शूरवीर पुरूषों को सेनापति के पद पर नियुक्त किया । उसने कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य जयद्रथ, सुदक्षिण, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, कर्ण, भूरिश्रवा, शकुनि और बाहुलीक इन ग्यारह वीरों को एक–एक अक्षौहिणी सेना का नायक बनाया .... । भीष्म से कहा दादाजी । कितनी ही बड़ी सेना हो

---

1. अर्थशास्त्र, 2-33/49–50/12
2. शुक्रनीति, 2/434
3. भारतीय सैन्य विज्ञान : मे0आर0सी0 कुलश्रेष्ठ पृ0–276
4. संक्षिप्त महाभारत प्रथम खण्ड, गीता प्रेस पृ0– 572
5. उद्योगपर्व, 572 एवं 574

यदि उसका कोई अध्यक्ष नहीं होता तो वह युद्ध के मैदान में जाकर चींटियों के समान तितर–बितर हो जाती है । सुना जाता है, एक बार हैहय वीरों पर ब्राम्हणों ने चढ़ाई की थी । उस समय वैश्य और शूद्रों ने भी ब्राम्हणों का साथ दिया था । इस प्रकार एक ओर तीन वर्णो के पुरूष थे और दूसरी ओर हैहय क्षत्रिय थे । जब युद्ध आरम्भ हुआ तो तीनों वर्णों में फूट पड़ गयी और उनकी सेना बहुत बड़ी होने पर भी क्षत्रियों ने उसे जीत लिया । तब ब्राम्हणों ने क्षत्रियों से ही अपनी हार का कारण पूछा । धर्मज्ञ क्षत्रियों ने उसका कारण बताते हुए कहा, हम युद्ध करते समय एक ही परम बुद्धिवान पुरूष की आज्ञा मानकर लड़ते थे और तुम सब–के–सब अलग–अलग अपनी–अपनी बुद्धि के अनुसार काम करते थे । तब ब्राम्हणों ने अपने में से एक युद्ध नीति में कुशलशूरवीर को अपना सेनापति बनाया और क्षेत्रयों को परास्त कर दिया ।[1] इसी प्रकार जो युद्ध संचालन में कुशल हितकारी, निष्कपट शूरवीर हो अपना सेनापति बनाते हैं, वे ही संग्राम में शत्रुओं को जीतते हैं । आगे दुर्योधन ने भीष्मपितामह से कहा कि आप शुक्राचार्य के समान नीतिकुशल और मेरी हितैषी हैं काल भी आपका कुछ बिगाड़ नहीं सकता तथा धर्म में आपकी अविचल स्थिति है । अतः आप ही हमारे सेनाध्यक्ष बने । जिस प्रकार स्वामिकातिंकेय देवताओं के आगे रहते हैं, उसी प्रकार आप हमारे आगे चलें ।[2]

इस प्रकार प्रायः देखा जाता है कि प्राचीनकाल में एक तरफ अस्थायी सेनापति की नियुक्ति की जाती थी तथा दूसरी तरफ स्थायी सेनापति की नियुक्ति की जाती थी । महाभारत का उपरोक्त सन्दर्भ अस्थायी नियुक्ति का प्रमाण है । लेकिन कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इस बात को दर्शाया है कि उस समय सेनापति की नियुक्ति स्थायी रूप में होती थी । उन्हें वेतन के रूप में 48000 पण प्रतिवर्ष दिया जाता था । अस्थायी नियुक्ति मात्र युद्धकाल तक पद पर आसीन होने की बात प्रमाणित करती है, लेकिन स्थायी नियुक्ति शांतिएवं युद्धकाल दोनों में सेनापति बने रहने को बताती है । महाभारत के समान लिच्छिवि

---

1. गीता प्रेस : संक्षिप्त महाभारत, उद्योगपर्व, पृ0– 574–75
2. वही, पृ0– 575

संघ में भी सेनापति की नियुक्ति अस्थायी रूप में होती थी । इस पर यदुनन्दन कपूर ने लिखा है कि उस समय सम्भवतः सेनापति की नियुक्ति स्थायी रूप में इसलिए नहीं की जाती थी कि शान्तिकाल में वह अपनी शक्ति से कहीं राज्य कर अपना अधिकार न कर ले ।[1] कौटिल्य ने इस अंश को प्रमाणित करते हुए लिखा है कि पुष्यमित्र शुंग ने बृहद्रथ को मारकर राज्य पर अपना अधिकार कर लिया ।[2]

कर्तव्य ::–

सेनापति को युद्धमंत्री की भी संज्ञा दी जाती है जिसके कारण यह कहा जाता है कि यह राजा द्वारा सैनिक–बातों में परामर्शदाता होता था । इसके ऊपर राष्ट्र का पूरा भार होता था । सैनिक कार्यवाही, सैनिकों की देखरेख उसे भलीभांति प्रशिक्षित करना तथा युद्ध संचालन के बारे में सही दिशा निर्देश देना आदि कार्य होते हैं । सेनापति बराबर अपने सैनिकों को युद्ध के लिए उत्साहित करता रहता था । सैनिकों को संगठित करना, उनके अन्दर अनुशासन का बीजारोपण करना आदि कार्य भी सेनापति का होता था । आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि सेनापति के अन्छर अपनी भूमि, युद्धकला, शत्रुसेना, शत्रुव्यूह का तोड़ना और उचित समय पर युद्ध के लिए प्रस्थान करना, इन सभी बातों को समझने, करने की पूरी क्षमता होनी चाहिए । सेनापति को चाहिए कि युद्धकाल में अपनी सेना को संचालित करने के लिए चढ़ाई करने, कूच करने एवं धावा बोलन के लिए बाजे, ध्वजा तथा झण्डियों के द्वारा ऐसे इशारों का प्रयोग करे जिन्हें शत्रु सेना न समझ सकें ।[3] इस प्रकार यह देखा जाता है कि प्राचीन भारतीय आचार्य सेनापति के कार्यो पर विशेंश ध्यान देते थे तथा उन्हें राष्ट्र का पूरा उत्तरदायित्व सौंप देते थे जिसके कारण सेना की सफलता एवं असफलता सेनापति पर पूर्ण रूप से निर्भर करती थी ।

---

1. यदुनन्दन कपूर : प्रजातंत्रात्मक परम्पराएं, पृ0– 188
2. मे0 आर0 सी0 कुलश्रेष्ठ : भारतीय सैन्य विज्ञान, पृ0– 277
3. अर्थशास्त्र, 2–33/49–50, 13–14

(ड.) **उत्तराधिकारी ::–**

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के साथ ही प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक साहित्य युवराज अथवा उत्तराधिकारी का उल्लेख अट्ठारह तीर्थो के साथ किये हैं । उत्तराधिकारी का स्थान मुख्य मंत्री व पुरोहित के बाद रखा गया है । शुक्रनीति ने युवराज को राजा की दाहिनी भुजा, आंख व कान कहा है । जबकि मंत्रियों को बायी भुजा, आंख व कान कहा है । ऐसा मात्र इसलिए कहा गया था कि वह भावी राज्य का शासक होता था । युवरोज को शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया जाता था । वह 3 वर्ष से 16 वर्ष तक शिक्षा ग्रहण करता था । फिर उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश कराया जाता था । युवरोज को प्रशासनिक अध्यक्ष के अधीन रख कर प्रशासन सम्बन्धी व्यावहारिक प्रशिक्षण दिया जाता था । जब उसे स्वतंत्र रूप से उच्च पद योग्य समझ लिया जाता था तो कोई उत्तरदायी पद दिया जाता था, जैसे सेनापति, किसी प्रान्त का शासक आदि ।

अर्थशास्त्र में कहा गया है कि जब कोई युवराज अवैध कार्य न करते हुए भी राजा को न भाये तो ऐसे युवराज को अपने पिता की प्रभुसत्ता से निकल कर किसी दूसरे प्रदेश में चले जाना चाहिए यदि किसी ईमानदार राजपुत्र को यह भय होता था कि उसका पिता उसे बन्दी बना देगा या गुप्त रूप से मरवा देगा तो ऐसा युवराज किसी भले सामन्त से गठबन्धन कर लेता था, किसी प्रभावशाली परिवार से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता था । सेना एकत्रित करता था ओर राजा के पक्षों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करता था । ऐसे राजपुत्र जिनके साथ राजा अन्यायपूर्ण व्यवहार करता था, अपना राज्यछोड़कर अपने ममेरे सम्बन्धियों से मिलकर राजा के विरूद्ध चाले चलते थे । दूसरी ओर अगर राजपुत्र अनुचित व्यवहार करता था और राजा निष्पक्ष होता था तो प्रथम राज कूटनीति द्वारा उसे ठीक मार्ग पर लाता था । यदि वह न सुधर पाता तो उसे किसी खतरे से पूर्ण विदेशी अभियान पर भेज दिया जाता था । जिससे कि वह शासक के लिए चिन्ता व शैतानी का कारण न बन सके । यदि यह भी सम्भव न हो सका तो उसे बन्दी बना लिया जाता था या मरवा दिया जाता था ।[1]

---

1. अर्थशास्त्र, अधिकरण, 1, अध्याय 17

लेकिन ऐसे राजपुत्रों को, जिसे राजा मान देता था और नागरिक आदर की दृष्टि से देखते थे, राज्य का विश्वासपात्र समझा जाता था । उसे युवराज बनाया जाता था और पुरोहित, सेनापति व रानी आदि के बराबर भत्ता (48,000 पण) दिया जाता था । उसे पुरोहित एवं सेनापति की भांति गुप्तचर विभाग के निरीक्षण से बाहर रहने का विशेषाधिकार भी प्राप्त होता था । साधारणतया प्रत्येक राजपुत्र को किसी छोटे से प्रदेश का शासक नियुक्त किया जाता जाता था, परन्तु उसके शासन के लिए वह राजा के उत्तरदायी रहता था । उसकी स्थिति आजकल के बाबूसराय के समान होती थी । रामायण में उल्लेख है कि भारत, शत्रुघ्न, लक्षमण व राम के पुत्रों को छोटे–छोटे प्रदेशों का शासक बनाया गया । ऐसे ही अशोक के साम्राज्य में राजपुत्रों को (जिन्हें कुमार कहा जाता था) प्रान्तीय राज्यपाल नियुक्त किया गया था । इन कुमारों को अपने–अपने प्रदेशों में (गुप्त शासन की भांति) जिलाधिकारी नियुक्त करने का अधिकार था । ये राजपुत्र यौद्धिक क्रिया–कलाप में राजा का साथ युद्धक्षेत्र तक देते थे ।

नियुक्ति :–

प्राचीन भारत में राजपुत्रों की नियुक्ति मुख्य तीन सिद्धान्तों को लेकर की जाती थी ::–

(1) ज्येष्ठता का सिद्धान्त

(2) योग्यता का सिद्धान्त

(3) शारीरिक योग्यता का सिद्धान्त

प्रथम का आश्रय राजकुल तक ही सीमित था । सामान्यतः राजा की मृत्यु के पश्चात अथवा उसकी वृद्धावस्था में ही राजा का अभिषिक्त पुत्र, वह भी ज्येष्ठ पुत्र, युवराज पद पर अभिषिक्त होता था । रामायण में मर्थरा ने इसी सिद्धान्त की ओर इंगित करते हुए कहती हैं – "हे कैकेयी जब राम राजा होंगे तो उनके पश्चात् उनका पुत्र राजा होगा, भरत को सदा के लिए राज्य से वहिष्कृत कर दिया जायेगा वशिष्ठ मुनि तथा राजा जनक ने भी इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है । शतपथ ब्राम्हण में "दशपुरूषमराज्य" का उल्लेख मिलता है जो इस बात का सूचक है कि वैदिककाल में राजपद पर नियुक्ति आनुवांशिक आधार

पर होती थी ।[1] महाभारत में भी इस सिद्धान्त का पालन किया गया है । अलतेकर ने ज्येष्ठताक्रम के सिद्धान्त के बारे में लिखा है कि – "शिलालेख", ताम्रपट्ट और साहित्यक ग्रन्थों से भी यही ज्ञात होता है कि 700 ई0पू0 से जिन राज्यों का पता चलता हे वे सब पैतृक परम्परा से ही चलते थे । अनुवांशिक राज्य–पद्धति से सम्बन्ध कुछ वैधानिक बातें भी उल्लेखनीय हैं ।साधारणतः हिन्दू परिवार की सम्पत्ति भाइयों में विभाजित होती थी, परन्तु राज्य अविभाज्य होता था और ज्येष्ठ पुत्र ही यदि वह अंधा, गूंगा या मूर्ख न हो गद्दी पर उत्तराधिकारी होता था । परन्तु छोटे भाइयों को प्रादेशिक शासन या उच्च पद दिये जाते थे । जातक कथाओं और इतिहास में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं ।[2] एन0एल0 ला ने भी लिखा है कि राज्य के उत्तराधिकारी के लिए ज्येष्ठ पुत्र की छांट ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में साधारणतः प्रचलित पद्धति थी ।[3]

दूसरा सिद्धान्त जो योग्यता पर आधारित था, इसमें चारित्रिक योग्यता अति आवश्यक थी । ऋगवेद में उल्लेख है कि ब्रम्हा ने इस आर्य भूमि को सर्वश्रेष्ठ दिव्य आचरण से युक्त व्यक्ति को प्रदान किया और कहा गया है कि राजा वही हो सकता है जो सज्जनों में रेष्ठ और प्रजापालक हो । वाल्मीकि के अनुसार राजा दशरथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र राम के अन्दर अनुपम गुण देखे और उनगुणों को अपूर्व मानकर सोचा कि क्यों न राम को अपने काल में ही युवराज पद पर अभिषित कर दें ।

युवराज पद के लिए शारीरिक योग्यता पर भी विशेश बल दिया जाता था । शारीरिक दोषों के कारण आनुवांशिक आधार पर राज्य के उत्तराधिकारियों को राजपद न दिया गया, इस बात का भी उदाहरण मिलता है । घृतराष्ट्र को अन्धा होने के कारण तथा शांतनु के बड़े भाई देवर्षि को कोढ़ी होने के कारणं राजपद से वंचित रखा गया । इस विषय पर डा0 मुकर्जी ने लिखा है कि – "साधारण नियम सही था

---

1. एच0 रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 160
2. अ0स0अलतेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ0– 68–69
3. एन0एल0ला : आसपेक्ट्स आफ इण्डियन पोलिटि, पृ0– 53–60

कि ज्येष्ठ पुत्र को राजपद दिया जाता था । परन्तु कौटिल्य ने इस बात पर बल दिया है कि राजा के एक मात्र पुत्र को भी सिंहासन पर नहीं बैठाना चाहिए, यदि उसमें शिक्षा, विनय एवं चरित्र की कमी हो ।.... .... कौटिल्य का विश्वास राजपद के लिए आनुवांशिक अधिकार की अपेक्षा योग्यता में अधिक थी ।[1]

आर0सी0 मजूमदार के अनुसार शतपथ ब्राम्हण और अथर्ववेद इस विषय में सहमत हैं कि केवल रथकार और ग्राम के प्रमुख राजा का निर्वाचन करते थे । इन दोनों की भली प्रकार जनता के सैनिक और नागरिक वर्गो का प्रतिनिधि समझा जाता था । विद्वान लेखकों ने अनेक उदाहरण देकर यह निष्कर्ष निकाला है कि महाकाव्यकाल में निर्वाचन के सिद्धान्त का सर्वथा अन्त नहीं हुआ था । उस समय तक भी राजकर्तार थे, जैसा कि वैदिककाल में होता था, वे राजा के वरण के अधिकार का प्रयोग करते थे और कभी–कभ राजा के नाम निर्देशन को भी पलट देते थे ।[2] पी0सी0 धर्मा ने भी लिखा है कि नियम तो यही था कि राजा आनुवांशिक होते थें, परन्तु नये राजा केवल अधिकार के नाते ही उत्तराधिकारी नहीं बन पाते थे, उनका औपचारिक रूप से समिति द्वारा निर्वाचन होता था ।एक के बाद दूसरा राजा ज्येष्ठाधिकार के पूर्वगामी का उत्तराधिकारी बनता था । परन्तु नये राजा को सर्वप्रथम शासन करने वाला राजा और मंत्री नियुक्त करते थे और तब उसका सभा या समिति द्वारा निर्वाचन होता था ।[3]

(च) अन्य सैनिक पदाधिकारी एवं असैनिक पदाधिकारी :–

अन्य सैनिक पदाधिकारियें का वर्णन कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में प्रधान सेनापति और राजकुमार के बाद उल्लिखित किया है :–

1. **अश्वाध्यक्ष :–** अश्व सेना के अध्यक्ष को अश्वों के नश्लों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए । अश्व सेना के सम्पूर्ण कार्य का उत्तरदायित्व इसी के ऊपर रहता है ।[4]

2. **हस्त्यध्यक्ष :–** हस्त सेना योग्य हाथियों को पकड़वाने, उन्हें सही ढंग से प्रशिक्षित करने आदि सैनिक कार्यवाही का उत्तरदायित्व हस्त्यध्यक्ष के ऊपर रहता है । इसे शस्त्रों के प्रयोग एवं हस्तयुद्ध का पूर्ण ज्ञान

---

1. आर0के0मुकर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स, पृ0– 66
2. आर0सी0मजूमदार : कारपेरेट लाइफ इन एसियेन्ट इण्डिया पृ0– 104–11
3. पी0सी0 धर्मा : रामायण पोलिटी, पृ0– 14
4. अर्थशास्त्र प्रकरण 46 अध्याय 30

होना चाहिए ।[1]

3. **रथाध्यक्ष :–**

सैनिक कार्यो में उपयोगी रथों की पूर्ण जानकारी रखना । यौद्धिक कार्यवाही के लिए उपयुक्त शस्त्रास्त्रों के साथ प्रशिखित कराना आदि कार्य का उत्तरदायित्व रथाध्यक्ष रखता है ।[2]

4. **पत्यध्यक्ष :–**

पैदल सेना से सम्बन्धित यौद्धिक संक्रियाओं का पूर्ण ज्ञाता, पत्यध्यक्ष को होना चाहिए[3]

5. **आयुधागाराध्यक्ष :–**

युद्धोपयोगी सामाग्री तैयार करवाने, दुर्ग का निर्माण, विध्वंसक शस्त्रास्त्रों का निर्माण एवं भण्डारण आदि का उत्तरदायित्व आयुधागाराध्यक्ष पर होता था । यह शस्त्रास्त्रों का गुणों का पूर्णरूपेण ज्ञाता होता है ।[4]

6. **दौवारिक :–**

नगर–द्वार रक्षा का मुख्य अधिकारी ।

7. **अन्तर्वशिक :–**

अन्त:पुर की रक्षा का मुख्य अधिकारी ।

आदि सैनिक अधिकारियों का उल्लेख किया गया है ।

असैनिक पदाधिकारी :–

ये ऐसे पदाधिकारी होते थे जो साग्रामिक कार्यो में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेते थे, लेकिनअप्रत्यक्ष रूप से सहायकबल का कार्य करते थें । ये असैनिक अधिकारी विष्टिबल, चरोंके पदाधिकारी चिकित्सक अधिकारी आदि से सम्बन्धित थे । सम्भवत: पुरोहित को भी इसी वर्ग में माना जा सकता है ।

---

1. अर्थशास्त्र, 47/33
2. वही 49/33
3. वही, 50/33
4. वही, 49/18

युद्ध परिशद के सचिव भी इस क्रम में जुड़े हुए हैं । कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र[1] में मार्ग–निर्माता, कुए खोदने वाले, शिविर बनाने वाले आदि कर्मचारियों के पदाधिकारियों को प्रशस्त कहा है जो असैनिक पदाधिकारी हैं । इस तरह भोजन बनाने वाला महानस, ध्वजवाहक, बाजे बजाने वाले सरदार आदि सभी असैनिक कर्मचारी ही माने जाते हैं ।

(छ) सर्वोत्तम सेना के लक्षण व उच्चतम सेना के लक्षण ::–

राष्ट्र अपनी सुरक्षा हेतु राष्ट्रीय शक्ति एवं सैन्य शक्ति को सुदृढ़ रखना चाहता है जिससे पड़ोसी राष्ट्रों से सुरक्षा हो सके । इसके लिए वह देश भक्ति से ओतप्रोत नवयुवकों को सेना में भर्ती करता है । उनके लिए सही ढंग से शिक्षण एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है । फिर सेना को संगठित करके उन्हें शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित करता है । आदि कार्यो के बाद एक उत्तम सेना का निर्माण करता है । क्या ऐसे ही विचार प्राचीन भारतीय आचार्य रखते थे ? यह एक विचारणीय प्रश्न है । जिसका विश्लेशण करना अति आवश्यक है ।

आचार्य कोटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में उत्तम सेना के बारे में लिखा है कि जिस सेना में पितृ–पितामह के समय सैनिक कार्यो में भाग लेने रहने वाले स्थिरता के साथ सेवा करने वाले, आज्ञापालन करने वाले, राजा की ओर से कुटुम्ब के भरण–पोषण की सुविधा प्राप्त करने वाले, परम साहसी, दुःखों को सहन करने वाले, युद्धकला के ज्ञात सभी प्रकार के अस्त्र–शस्त्रों के चलाने में चतु क्षत्रिय सैनिक अधिक हों, वही सेना है ।[2] कौटिल्य का यह कहना कि जिस सेना में ज्यादा क्षत्रिय होंगे वह सेना उत्तम होगी । इसका अभिप्राय यह नहीं कि सारी सेना क्षत्रिय लोगों की ही होती थी । मौर्यकाल में ही मौर्य राजा वृहद्रथ का प्रधान सेनापति स्वयं ब्राम्हण था । महाभारत में द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा आदि महान योद्धा ब्राम्हण ही थे । हां,

---

1. अर्थशास्त्र,
2. अर्थशास्त्र, 6/1/11

यह माना जा सकता है कि सेना वर्ग में क्षत्रिय ज्यादा होते थे । कौटिल्य ने ब्राम्हण की सेना पर तीक्षण प्रहार करते हुए लिखा है कि वे शत्रुओं द्वारा नमस्कार, सत्कार करने पर शत्रु से प्रसन्न हो सकते थे और युद्ध समाप्त कर सकते थे ।[1] इस प्रकार ब्राम्हण बल पर शत्रु सहज ही विजय प्राप्त कर सकता था कौटिल्य वीरत्व के आधार पर वैश्य और शूद्रों को भी सेना में स्थान देने की बात कहें हैं ।[2]

---

1. अर्थशास्त्र, 9/2/45
2. अर्थशास्त्र, 9/2/47

अध्याय (4)

प्राचीन सैन्य संरचना एवं संगठन

प्राचीन सैन्य संरचना एवं संगठन

सेना की परिभाषा :-

प्राचीन सप्तांग राज्य का एक प्रधान अंग है । इसी के सहारे राजा अन्य पड़ोसी राज्यों से अनुकूल व्यवहार कराने की क्षमता प्राप्त करता है । इसके द्वारा शत्रु राज्य पर नियंत्रण रखा जाता है और साथ ही शत्रु की दुष्टमयी स्वार्थ वृत्तियों को तोड़ा जाता है । शुक्र की परिभाषा का उल्लेख करते हुए मेजर आर0सी0 कुलश्रेशठ ने लिखा है कि शस्त्रों और अस्त्रों से सुसज्जित मानव समुदाय सेना कहलाता है[1] (सेनाशस्त्रास्त्र संयुक्ता मनुष्यादि गणात्मिका) । इसका अभिप्राय यह नहीं कि किसी प्रकार के मनुष्यों के हाथों में शस्त्र देने मात्र से ही उनका समूह सेना कहलाने लगेगा । किसी व्यक्ति के हाथ में आरी और बसूला दे देने से ही वह बढ़ई नहीं कहलाने लगता और केवल ब्रश ग्रहण करने वाला ही चित्रकार नहीं हो जाता, अपितु उनका प्रयोग जानने तथा उस कला की शिक्षा प्राप्त कर लेने पर ही वह बढ़ई एवं चित्रकार बन सकता है । इसी

---

1. मेजर आर0सी0 कुलश्रेष्ठ : भारतीय सैन्य विज्ञान, पृ0- 232

प्रकार शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में निपुण, यूद्ध सिद्धान्तों का ज्ञाता तथा युद्ध कला में अभ्यस्त व्यक्ति को ही सैनिक कहा जाता है । ऐसे अनेक सैनिकों के समूह को जो निश्चित योजनानुसार संगठित होता है, सेना कहते हैं [1] । इस तरह से संगठित, सुसज्जित अनेक समूहप्राचीन भारतीयकाल में रहा है, जिसे बल या सेना की संज्ञा दी गयी है । शुक्रनीति में बल की परिभाषा इस प्रकार की गयी है, जिसके आधार पर निःशंक होकर मनुष्य कार्य कर डालता है, वही बल है । [2] शुक्र के अनुसार बल छः प्रकार का होता है – शारीरिक बल आत्मिक बल, सैन्य बल, अस्त्र बल, बुद्धिबल और आयुबल । इनमें सबसे अधिक महत्व सैन्य बल का है [3] यह दो प्रकार से संगठित होता है । एक अपनी वृत्ति से पाली गयी सेना का बल और दूसरा मित्र सेना का बल । महाभारतकार ने सैन्यबल के आठ अंग माने हैं – रथ, हाथी, घोड़े, पैदल, विष्टि (भारवाहक), नाविक चर ओर देशिक अर्थात युद्ध हेतु उत्तेजित एवं प्रोत्साहित करने वाले । यथार्थ में प्राचीन भारत में सेना चार प्रकार कीहोती थी, इसीलिए उसे चतुरंग बल कहते थे । जिसमें पैदल सेना, रथ, हाथी और घोड़े सम्मिलित थे ।[4]

प्राचीनकाल में हाथी और घोड़े सैनिकों के लिए वाहन थे । ये सैनिकों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक तीव्रगति द्वारा पहुंचाते थे अतः सेना के दो भेद और माने गये थे – एक स्वगमा और दूसरा अन्यगमा [5] । पैदल यात्रा करने वाले सैनिक या सेना स्वगमा कहलाती थी और यान या वाहन द्वारा यात्रा करने वाली सेना अन्यगमा कहलाती थी । सहायक बल जो चतुरंग बल को सहयोग देती थी, इनकी सं० भी चार बतायी गयी है, जिन्हें नौ, विष्टि, देशिक और चर कहा जाता था । नाव का उपयोग करके भी युद्ध लड़ा जाता था, जिसके कारण इसे अन्यगमा भी कह सकते थे, लेकिन शेश तीन बल युद्ध कार्य में भाग नहीं लेते थे, इनका काम युद्ध कार्य में सहयोग प्रदान करना था । समान ढोने वाले श्रमिक वर्ग के सैनिक को

---

1. वही
2. शुक्रनीति, 1/323
3. शुक्रनीति, 1/324
4. वी0आर0आर0 दिक्षितारः हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीटयूशन, पृ0– 293
5. शुक्रनीति 4/864

विष्टि कहा जाता था । देशिक बल युद्ध के लिए लोगो को उपदेश या गीतो द्वारा प्रोत्साहन दिया करते थे । चर या चार गुप्तचर होते थे जो शत्रु के गुप्तचरो को अपना भेद लेने से रोकते थे और उनका भेद लेने का प्रयत्न करते थे ।

आचार्य कौटिल्य ने भी बल को शक्ति कहा है [1] । इन्होने तीन प्रकार के बल का उल्लेख किया है मंत्र शक्ति अर्थात् ज्ञान बल प्रभुशक्ति अथवा अर्थात कोष और सैन्यबल तथा उत्साह शक्ति[2] उसने यह भी कहा है कि शत्रु के आक्रमण और आन्तरिक विद्रोह आदि के दमन हेतु सैन्य और कोशबल अपेक्षित है । इनमे भी सैन्यबल का महत्व अधिक माना गया है [3] प्राचीनकाल सेना मे पैदल सैनिक के अतिरिक्त रथी, अश्वारोही और गजारोही होते थे । हाथियो का महत्व सेना मे अत्यधिक माना जाता था । हाथियो के बारे मे लिखा जा सकता है कि हाथी आठ आयुधो (शस्त्रो) से युद्ध करती थी । क्योकि हाथियो के पास शस्त्रो मे चार पाव, दो दात सूड और पूछ माने जा सकते है । शुक्र ने अपनी शुक्रनीति मे हाथियो के बारे मे यह उल्लिखित किया है कि हाथी एक साथ सहस्त्र मनुष्यो से युद्ध कर सकती थी ।[4] इसलिए विजय प्राप्ति के लिए इसे एक साधन माना जाता था । लेकिन हाथियो की उपयोगिता को सिकन्दर ने झेलम के संग्राम मे व्यर्थ कर दिया । तब भी सन 455 से 458 तक स्कन्दगुप्त ने और 528 ई0पू0 तक नरसिंहगुप्त ने हूणो के हाथियो की सेना से पराजित किया था । रथ सेना द्वारा भी बहुत सारे यौद्धक कार्य किये जाते थे जिसमे अपनी सेना की रक्षा शत्रु सेना का विरोध शत्रु सैनिको का पकड़ना अपनी बिखरी सेना को एकत्रित करना शत्रु सेना को भय और अपनी सेना को महत्व देना आदि । कुरूक्षेत्र युद्ध से यह जानकारी मिलती है कि रथो मे भयकर शब्द करने वाले शख भी रहते थे । इन शखो का प्रयोग शत्रु को ललकारने एव विजय

---

1. अर्थशास्त्र, 6/2/40
2. वही, 6/2/41-42
3. अर्थशास्त्र, 6/2/4
4. शुक्रनीति 4/८८६

पर बजाये जाते थे । घोड़ों द्वारा ऐसा काम लिया जाता था जो हाथियों एवं रथों द्वारा नहीं हो सकता था । प्राचीन भारत में 2000 वर्ष पूर्व नौ बल का उल्लेख मिलता है । भारतीय नौसेना में जहाज तो थे लेकिन उन पर तोपों का उल्लेख नहीं मिलता ।[1]

कोटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सेना के छः भेद किये हैं [2] मौलबल, मृतकबल, रेणीबल मित्रबल, अमित्रबल और आटवी । (1) राजधानी की रक्षा करने वाली सेना (मूल सेना अथवा मौलबल, (2) वेतनभोगी सेना (भृत्यबल), (3) विभिन्न प्रदेशों में रखी गयी सेना (श्रेणीबल), (4) मित्र राजा की सेना , (मित्रबल) (5) शत्रु राजा की सेना (शत्रुबल), (6) जंगल की सुरक्षा के लिए नियुक्त सेना (आटविकबल) । प्रत्यध्यक्ष को इन सभी प्रकार की सेनाओं के सामर्थय और असामथ्र्य की पूरी जानकारी रखनी चाहिए । अश्वाध्यक्ष से लेकर प्रत्यध्यक्ष तक जो युद्ध के कार्य बताये गये हैं उन सभी का तथा युद्ध में काम आने वाले सभी शस्त्रों के चलाने का सेनापति को ज्ञान होना चाहिए । इन छः बल के अतिरिक्त कोटिल्य ने एक सातवें प्रकार के बल का उल्लेख किया है जिसे 'औत्साहिक" कहा है । स्वोत्साह से लड़ने के कारण उसका नाम ऐसा पड़ा ।[3] आजकल ऐसे सैनिकों को स्वेच्छा से भर्ती हुई सेना कह सकते हैं ।

कौटिल्य की तरह शुक्र [4] ने भी सेना को कई भागों में बांटा है । यह बटवारा उन्होंने कई सिद्धान्तों पर आधारित होकर किया । सार, असार, शिक्षित, अशिक्षित, गुल्मक, अगुल्मक, दक्षास्त्र, स्वशस्त्रास्त्र, दक्षवाहन, स्वीम,इत्यादि । युद्ध में आत्मीयता से भाग लेने वाली सेना सार कही जाती थी और अप्रिय ढंग से भाग लेने वाली सेना असार, व्यूह रचना में कुशल शिक्षित और अकुशल अशिक्षित सेना कहलाती थी । जिस सेना का स्वामी कोई ओर होता है । उसे गुल्मक या गुल्मीभूत कहते हैं, जिसका स्वामी दूसरा नहीं होता वह अगुल्मक सेना कहलाती है । जिस सेना को राजा शस्त्रास्त्र और वाहन देता है, वह दक्षास्त्र

---

1. पी0ए0 स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ0– 55
   राधाकुमुद मुकर्जी : हिस्ट्री आफ इण्डियन शिपिंग पृ0–102
2. अर्थशास्त्र 2/33/9
3. अर्थशास्त्र 9/2
4. शुक्रनीति 4/874/876

और दक्षवाहन कहलाती है । मित्र की सेना मैत्र और अपनी स्वीप होती है ।[1] बाजपेयी ने आजकल की सैन्य व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन प्राचीनकाल की सैन्य व्यवसथाओं से किया तो पाया कि आजकल जिस प्रकार की सेना कम्पनी, प्लाटून रेजीमैन्ट, बटालियन, डीविजन और आर्मर्डकोर आदि में बाटी रहती है, उसी प्रकार हिनदू भारत में सेना पन्ति, सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी प्रत्ना, चमु, अनाकिनी ओर अक्षौहिणी में बांटी जाती थी । यह विभाजन निम्न प्रकार होता था ।[2]

	रथ	हाथी	घोड़े	पैदल
पन्ति में	1	1	3	5
सेनामूख में	3	3	6	15 या 3 पन्ति
गुल्म में	9	9	27	45 या 3 सेनामुख
गण में	27	27	81	135 या 3 गुल्म
वाहिनी में	81	81	243	405 या 3 गण
प्रत्ना में	243	243	729	1215 या 3 वाहिनी
चमु में	729	729	2187	3645 या 3 प्रत्ना
अनीकिनी में	2187	2187	6561	10935 या 3 चमु
अक्षौहिणी में	21870	21870	65610	109350 या 10 अनीकिनी

प्राप्त विवरणों के अनुसार सम्राट चन्द्रगुप्त की सैनिक शक्ति बहुत बड़ी थी, क्योंकि उसके द्वारा ही पंजाब से यूनानी शासन को उखाड़ा गया और नन्दवंश के शक्तिशाली साम्राज्य को भी समापत किया गया । इसके बाद प्रायः सम्पूर्ण भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित किया । यूनानी वर्णन में नन्द साम्राज्य की सेना का अनुमान इस प्रकार लगाया गया है – पैदल सैनिक को दो लाख, अश्वारोही सैनिक बीस हजार, हाथी तीन हजार ओर चार घोड़ों वाले रथ आठ हजार । प्लाइनी ने चन्द्रगुप्त की सेना में छः लाख पैदल सैनिक, तीस हजार अश्वारोही सैनिक और नौ हजार हाथियों का अनुमान लगाया है ।[3] उसने रथों की संख्या नहीं दी है, जो कम से कम नन्द सेना के बराबर अर्थात आठ हजार मानी जा सकती है । इस

---

1. शुक्रनीति, 4/874–76
2. अप्र0 बाजपेयी : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ0– 270–71
3. प्लिनी : नेचुरल हिस्ट्री, 5/22

विशाल सेना में अधिकतर स्वेच्छा से भर्ती हुए सैनिक–नागरिक सेना– नहीं थे वरन् इसका बड़ा भाग नियमित सेना का रहा होगा । मेगस्थनीज के [1] अनुसार सेना पर युद्ध कार्यालय का नियंत्रण था । उसमें तीस सदस्य थे, जो पांच–पांच के छः बोर्ड में विभाजित थे । इनमें से प्रत्येक एक विभाग का कार्यभारी थी । (1)पैदल सेना, (2) अश्वारोही सेना, (3) युद्ध रथ, (4) युद्ध के हाथी, (5) परिवहन, सैनिक सेना और (6) नाविक सेना से सहयोग करने वाला बोर्ड । कौटिल्य ने तो अर्थशास्त्र में अन्य सहायक विभागों का भी उल्लेख किया है । जैसे स्काउट, जिनका कार्य सैनिक शिविरों, मार्गो, नदियों आदि की परीक्षा करना, कुएं खोदना आदि था । मशीनों, शस्त्रों, तोपखानों व रसद को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने वाला परिवहन विभाग युद्ध स्थल से धायल सैनिकों को हटाने वाला विभाग तथा चिकित्सक दल अथवा विभाग । इनके अतिरिक्त कौटिल्य ने ऊंटों की टुकड़ियों का भी उल्लेख किया है ।[2]

प्राचीन भारतीय सेनांग का संक्षिप्त परिचय :–

प्राचीन भारतीय सैन्य प8ति के इतिहास का सही एंग से निरूपण करने पर यह ज्ञात होता है कि प्रागैतिहासिककाल से लेकर वैदिककाल तक मात्र दो प्रकार की सेना थी, जिसमें एक को पदाति सैन्य बल और दूसरे को रथ सैन्यबल कहते थे । लेकिन कुछ स्थानों पर हाथियों का उल्लेख मिलता है, जिसमें एक स्थल पर दो हाथियों का सिर झुकाये शत्रु की ओर दौड़ने का उल्लेख भी मिलता है ।[3] लेकिन वैदिककाल तक का सन्दर्भ ग्रन्थ इस बात को प्रमाणित नहीं कर सका कि उस समय हस्त सैनिक थे । उस समय अश्व सेना का भी उल्लेख नहीं मिलता, हां, इतना जरूर मिलता है कि अश्व, रथ में जाते जाते थे[4]

---

1. मेगस्थनीज – अंश इनवेजन आफ इण्डिया वाई एलेक्जैण्डर–मैकृण्डल, 29
2. आर0के0मुकर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स, पृ0– 165–67
3. ऋगवेद, 6/75 तथा युगेन्द्रकुमार शर्मा : प्राचीन भारतीय राजनय एवं युद्ध तकनीक, पृ0– 96
4. ए0सी0दास : ऋगवैदिक कल्चर, पृ0–223–26

दोनों उदाहरण इस बात को प्रमाणित करते है कि वैदिककाल तक सेना मात्र दो प्रकार की ही होती थी जिसमें अश्व सेना और गज सेना का उल्लेख नही है । इतना माना जा सकता है कि इनका प्रयोग सूक्ष्म रूप में होता रहा होगा ।

भारत जो अपने- भू--भाग के लिए प्रसिद्ध है, जिसमे तरह -तरह की प्राकृतिक बनावटे पायी जाती है । जैसे मैदान पहाड़ रेगिस्तान तथा नदी-नाले व दलदल आदि यह प्राकृतिक बनावट सामरिक दृष्टि से आर्यो की सेना मे, सामयिक परिवर्तन लाने के लिए जरूर बाध्य किया होगा क्योकि धीरे धीरे भौगोलिक स्थिति के आधार पर पैदल एव रथ मे गतिशीलता तो आयी है साथ ही अब अश्व एव गज का भी युद्ध में प्रयोग होने लगा । यह कार्य युद्ध को और अधिक गतिशील बनाने के लिए किया गया । जब अश्व रथ से जुड़े होते थे तो उनमे गतिशीलता उतनी नही रहती थी जितनी कि वे स्वच्छन्द रूप मे गतिशील रहते थे, इसलिए अश्वों का प्रयोग युद्ध में किया जाने लगा । वैदिककाल के बाद यह देखा गया कि आर्य लोग अपनी सुरक्षा एव नगर की सुरक्षा हेतु उसके चारों ओर प्रकार बनाना शुरू कर दिये । यह प्राकार एव उसका फाटक इतना मजबूत होता था कि वह पैदल सैनिकों, रथों एव अश्वों द्वारा नष्ट नही किया जा सकता था । साथ ही जगल को पार करना नदीनालों के बीच से गुजरना आदि कार्यो में उपयुक्त सैनिको को नितान्त कठिनाई महसूस हो रही थी । इन कार्यो को अधिक सुगमता से मात्र गज सेना कर सकती थी जिसके लिए उसका चुनाव किया गया । मुख्य रूप से यह भी देखा गया कि वह अपने शरीर पर जो चर्म धारण किये हुए है वह इतना मोटा एवं मजबूत है कि शत्रु का शस्त्रास्त्र उस पर सही प्रभाव नही डाल सकता दूसरी बात यह पायी गयी कि यह एक अच्छा आड़ दे सकता था । इस तरह अश्व सेना एवं गज सेना की उपयोगिता को देखकर प्राचीन भारतीय आचार्यो ने अश्व एवं गज सेना को उन दो सेना के साथ जोड़ लिया होगा ओर इस सेना का नाम चतुरग बल रख दिया । इस चतुरग बल की उपयोगिता मध्यकाल तक रही । यहीसेना मुख्य लड़ाकू अग माने जाते थे । मेजर आर0सी0 कुलश्रेष्ठ ने लिखा है कि आपने एक प्रसिद्ध खेल को देखा होगा अथवा उसके नाम को सुना होगा, जो इसी चतुरगबल के आधार पर प्रचलित हुआ था और जिसमें खिलाड़ी युद्ध क्षेत्र

की भाति चार प्रकार के मोहरों का प्रयोग करते है । वह खेल सम्भवत. प्रारम्भ मे चतुरग कहलाता था और आजकल अरबी भाशा के आधार पर शतरग कहलाता है ।[1] उन्होने आगे लिखा है कि यह अनुमान है क भारतीय राजा और सैनिक पदाधिकारी चतुरगबल को युद्ध कौशल की दृष्टि से युद्ध मे सफलता से प्रयुक्त करने का अभ्यास इस चतुरंग या शतरज खेल द्वारा ही करते थे ।[2] चतुरग बल का उल्लेख महाभारत ग्निपुराण एव जातक कथाओ मे मिलता है । आचार्य कौटिल्य एव शुक्र ने तो कुछ अन्य प्राचीन भारतीय आचार्यो ने चतुरग बल को महत्वपूर्ण माना है । [3]

आचार्य कौटिल्य ने सेना (दण्ड) को सप्ताग राज्य का एक महत्वपूर्ण अग माना है ।[4] इस तरह सेना राज्य का अंग मानी जा सकती है । राज्य मे शान्ति बनाने की प्रक्रिया मे सेना अपनी अहम भूमिका निभाती थी । राज्य अपनी नीति का क्रियान्वयन सेना द्वारा ही करता था । सेना का रूप स्थायी हो गया था जिसके कारण इसे वेतन, भत्ता आदि भी दिया जाता था । महाभारत [5] मे कई स्थलो पर सैनिको को भत्ता व आर्थिक सहायता देने का उल्लेख मिलता है । इस तरह यह कहा जा सकता है कि राज्य का कार्य बिना विचार–विमर्श और कोश के नही चल सकता । विचार विमर्श एव योजना ही युद्ध मे सफलता का कारण बनतती है । राम ने लका युद्ध के समय कई बार विभीशण से और रावण ने अपने मत्रियो तथा सेनापति से युद्ध के विषय मे मत्रणा की थी ।[6] इससे यह स्पष्ट होता है कि सैनिक कार्य मे मत्रणा का प्रमुख स्थान था साथ ही बिना कोश के सगठन भी कठिन था । कामन्दक मे यह उल्लेख किया गया है कि चतुरग बल के साथ मत्र एवं कोष दोनो भी थे ।[7] इस तरह अब चतुरग बल षष्टागबल कहलाने लगा । मनु ने अपनी

---

1. मेजर आर0सी0 कुलश्रेश्ठ . भारतीय सैन्य विज्ञान, पृ0– 233
2. वही
3. अर्थशास्त्र, 2 तथा शुक्रनीति 1/117-20
4. अर्थशास्त्र 6/1/1
5. महाभारत- शान्तिपर्व, सभापर्व
6. रामायण, युद्धकाण्ड, अ0 17, 18, 35, 36
7. कामन्दक, 19/24

मनुस्मृति में षष्टागबल का उल्लेख किया है ।[1] कालिदास ने भी अपने ग्रन्थ मे षष्टाग बल का उल्लेख किया है ।[2] लेकिन प्रमुख सेना चतुरगिणी सेना ही थी । कोष और मत्र सहायक के रूप मे थी ।

सेना अब दो प्रकार के दलो मे विभक्त हो गयी । पहले को लड़ाकू अग माना गया तथा दूसरे को सहायक । महाभारत के शान्तिपर्व मे अष्टाग बल का उल्लेख मिलता है जिसमे चार लड़ाकू (पैदल, रथ, अश्व और गज) एव चार सहायक (विष्टिबल, नौबल, चरबल और दैशिक बल) थे ।[3] कुछ जगहो पर नौबल (जलसेना) का भी उल्लेख मिलता है ।[4] यह भी सहायक सेना के रूप मे सामाग्री आदि नदी मार्ग से पहुचाने का कार्य करता होगा । महाभारत के अनुसार कोष अष्टाग बल मे नही आता है लेकिन मत्र को देशिक रूप में रखा गया था ।[5] देशिक वे सैनिक होते थे जो युद्ध के लिए लोगो को उत्साहित करते थे । प्रधान पुरोहित को युद्ध में मत्रणा देने का उल्लेख मिलता है ।[6] जो राजा को युद्ध क्षेत्र में उत्साहवर्धक कार्य करता था । लेकिन मत्रणा एव कोष को अलग ही रखा गया है । इसे यौद्धिक कार्यवाहियों मेंसम्मिलित नही किया गया । इस तरह ये दोनों अष्टाग बल में नहीं आते । आज भी ये सेना के अग के रूप मे नही माने जाते ।

(ख) यौद्धिक सैन्य बल ..-

जैसा कि सेना के कार्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह वास्तव में लड़ाकू कार्य ही करते थे, लेकिन इसी से यह भी अभिप्राय मिलता है कि उनकी सहायता एवं सहायक कार्य हेतु भी कुछ वर्ग रखा जाता रहा होगा । क्योकि प्राचीन भारत में जब तक के उल्लेखों के अनुसार पैदल, रथ, अश्व, गज ये प्रमुख सघर्ष करने वाले सैन्य दल थे । जो शत्रु को अपनी इच्छानुसार कुचलते भी थे साथ ही उनके द्वारा

---

1 मनुस्मृति 7/185
2 रघुवश 4/26
3. शान्तिपर्व 59/40/41/42
4. मनुस्मृति 7/192
5. शान्तिपर्व 59/41
6. अर्थशास्त्र, 9/2

दिये गये कठिन आघात को सहन भी करते थे । एक तरफ यह वर्ग युद्ध क्षेत्र मे राष्ट्रीय हित की रक्षा मरण -मारण की नीति अपनाये रहता था तो दूसरी तरफ सेना का एक वर्ग और होता था जो लड़ाकू सेना को भोजन सैनिक सामाग्री (वस्त्र, शस्त्रास्त्र) औषधिक आदि का प्रबन्ध करके सचरण मार्ग द्वारा सैन्य दल तक पहुचाता था । इस दल का कार्य यही समापत नही होता थ बल्कि वह शत्रु पक्ष की सारी जानकारी अपने पक्ष को गोपनीय ढग से देता था और अपने पक्ष के निराश सैनिको में उत्साह जागृत भी करता था । इस विश्लेशण के आधार पर यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि प्राचीनकाल मे सेना में दो दल हुआ करते थे, जिसमें एक लड़ाकू बल तथा दूसरा सहायक बल के नाम से जाना जा सकता है ।[1] इस तरह लड़ाकू बल मे पैदल सेना रथ, सेना अश्व सेना और गज सेना को गिना जा सकता हे ।[2] और सहायक बल मे विष्टि बल नौबल चरब । तथा देशिक बल को माना जा सकता हे ।[3] कौटिल्य ने इस सहायक अंग को युद्ध विभाग मे स्थान दिया है और पदाति, रथ. अश्व तथा गज सेनाध्यक्षों के साथ नवाध्यक्ष का नाम ही लिखा है ।[4] कौटल्य ने सम्भवत. यह इस आधार पर किया है कि विष्टि. चर. देशिक बल के लोग युद्ध में व्यावहारिक भूमिका अदा नही करते थे और केवल सैन्य आधार के रूप मे उपयोगी थे ।आचार्य कौटिल्य ने यौद्धिक दक्षता देशभक्ति तथा विश्वसनीयता के आधार पर सैन्य शक्ति को छ श्रेणियों मे विभक्त किया हें ।[5] जैसे ..

(1) मौल बल,

(2) मृतबल

(3) श्रेणीबल

(4) मित्र बल

(5) अमित्रबल

(6) आटवी बल

---

1. कामन्दकीयनीतिसार, 19/24
2. वही
3. शान्तिपर्व, 59/41
4. कौटिल्यअर्थशास्त्र, 44/28
5. अर्थशास्त्र, 9/2

सेना की उत्तमता ऊपर से नीचे की तरफ क्रमशः घटती ही आयी है । शुक्र के अनुसार सेना राज्य का अत्यधिक महत्वपूर्ण अंग है क्योंकि सेना के बिना न राज्य है, न धन और न पराक्रम है ।[1] शुक्र ने चतुरंग सेना (लड़ाकू सेना) को दो भागों में विभक्त कर दिया है । उन्होंने एक को स्वगमा तथा दूसरे को अन्यगमा कहा है ।[2] कर्म के आधार पर पुनः इन दोनों प्रकार की सेना को तीन भागों में बांटा है दैवी, आसुरी एवं मानुषी ।[3] शुक्र ने स्वगमा में पदाति सैनिकों को तथा अन्यगमा में अश्व, रथ रथा हाथी सेना को रखा है ।[4] इन्होंने इसी श्लोक में यह भी स्पष्ट किया है कि स्वगमा में पदाति सैनिक इसलिए रखे जाते थे कि वे अपने पैरों से चलकर युद्ध क्षेत्र तक पहुंचते थे तथा अपने पैरों के आधार पर ही युद्ध भी करते थे । जबकि अन्य गमा में सैनिक अश्व, गज रथ आदि का प्रयोग कर उनके माध्यम से या सवारी से युद्धक्षेत्र तक पहुंचते थे । तथा युद्धक्षेत्र में भी इनका प्रयोग करते थे ।

उपर्युक्त विवेचनाओं के आधार पर सेना को दो से आठ भागों में विभाजित करने का उल्लेख मिलता है लेकिन यौद्धिक संक्रियाएं भाग लेने वाले पदाति, रथ, अश्व, गज ही प्रमुख लड़ाकू अंग थे, ऐसा माना जा सकता है ।[5]

(ग) पैदल सेना :-

पैदल सेना, सेना का अति प्राचीन अंग है । इसका नामकरण पैदल यात्रा करके युद्धक्षेत्र तक पहुंचने एवं पैदल ही युद्ध करने के कारण पड़ा । पैदल सेना की बाहुल्यता लगभग हर काल में रहा है, यह विश्व के देशों में भी सम्मान की स्थिति में था । इसे वेदों में पृतना या पृत कहा गया है ।[6] ऋगवेद में यह उल्लेख किया गया है कि इन्द्र ने पृतना के बल पर ही शत्रुओं को पूरी तरह पराजित किया ।[7]

---

1. शुक्रनीति, 4/866
2. वही, 4/864
3. वही, 4/865
4. वही, 4/865–66
5. कामन्दकीयनीतिसार, 19/24
6. ऋगवेद, 7/20/3
7. वही

शस्त्रास्त्रों के विकास ने सैन्य संगठन एवं सामरिकी में परिवर्तनला दिया, जिसके कारण युद्ध संक्रिया ज्यादा प्रभावित हुई, लेकिन पैदल सेना अपने अस्तित्व को हमेशा उतार–चढ़ाव के बावजूद भी बनाये रखी । एस0 एल0ए0 मार्शल का यह कथन है कि जैसे–जैसे यांत्रिक युद्ध का विकास होता जायेगा, पैदल सेना का निर्णयात्मक महत्व बढ़ता जायेगा ।[1] डा0 लल्लन जी सिंह ने लिखा है कि निःसन्देह पैदल सेना में कुछ ऐसी विशेषताएं विद्यमान हैं, जो उसे स्थल सेना की रीढ़ की हड्डी एवं युद्ध क्षेत्र की रानी जैसीउपाधियों से अलंकृत करने में सहायक बनती हैं ।[2]इतिहास पैदल सेना के ऊपर विशेश प्रकाश डाल कर यह बताता है कि पैदल सेना ही सर्वशक्ति सम्पन्न एवं हार–जीत का निर्णय करने वाली सेना थी । महाभारत के शान्तिपर्व में यह कहा गया है कि संकटकालीन परिस्थितियों में पैदल सेना ही सेना का एकमात्र सहारा है । अतः जिस सेना में पैदल सैनिक अधिक मात्रा में हों वे सेना सुदृढ़ एवं ठोस सेना मानी जाती है, क्योंकि पैदल सेना ही एक ऐसी सेना है जो किसी भी समय ओर किसी भी परिस्थिति में प्रत्येक प्रकार की भूमि पर कार्य कर सकती है ।[3] मनु ने अपनी मनुस्मृति में पैदल सेना के बारे में उल्लेख किया है कि राजा को जलप्राप्य भूमि मे नाव तथा हाथियो के तथा समतल भूमि मे रथ एव घोड़ो से और झाड़ियो तथा वनो ऊबढ़ खाबड़ पहाड़ी और वर्जित क्षेत्रो मे पैदल सेना का प्रयोग सग्रामिक कर्यो के लिए करना चाहिए ।[4] इन उदाहरणो से यह स्पष्ट होता है कि पैदल सेना युद्धक्षेत्र के सभी स्थानो पर बिना रोक के पहुच जाती थी ।जहा अन्य सैनिक वर्ग नही पहुच पाते थे वहा यह पैदल सेना पहुच कर अपना पताका गाड़ देती थी ।

पदाति सेना का वेदो एव महाकाव्यकाल के बाद जबकि अश्व एव गज सेना पर विशेष जोर दिया जाने लगा था, भी महत्ता में कमी नहीं आयी । क्योंकि डा0 पी0 सी0 चक्रवर्ती ने लिखा है कि

---

1. डा0 लल्लन जी सिंह : भारतीय सैन्य इतिहास पृ0– 252
2. एस0एल0ए0 मार्शल : आर्मीज आन वर्ल्ड से उद्धृत
3. पूर्वोद्धृत पृ0– 251
4. शान्तिपर्वू 100/24
5. मनुस्मृति 7/192

हिन्दू सेनाओं में चार शताब्दी ईशापूर्व से 12वीं शताब्दी ईशा के अन्त तक (लगभग 1600 वर्ष तक) पैदल सेना की अधिकता ही बनी रही ।[1] पैदल सेना राज्य की आन्तरिक शान्ति बनाये रखने में अधिक उपयोगी सिद्ध होती थी । आचार्य शुक्र ने इनकी महत्ता को देखकर यह लिखा है कि राज्य की आदर्श सेना में सवारों की संख्या में स्वगमा पैदल सेना की संख्या चारगुनी होनी चाहिए ।[2] इस सेना के महत्व को अधिक समझकर इसे अन्य वर्गो में प्रथम स्थान दिया है । अग्निपुराण में भी बहुसंख्यक पदाति सेना को विजय का एक कारण बताया गया है ।[3]

कार्य ::-

कौटिल्य ने पैदल सैनिकों के कार्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सम-विषम आदि सभी स्थानों और वर्षा, शरद आदि सभी ऋतुओं मेंयुद्ध के लिए तैयार हो जाना, नियमपूर्वक कवायद करना और अवसर आने पर युद्ध करना, ये सब कार्य पदाति सेना के हैं ।[4] नीतिप्रकाशिका में भी पैदल सेना के कार्यो पर प्रकाश डाला गया है, उसमें यह उल्लेख किया गया है कि पैदल सेना, सेना के मार्ग का निरीक्षण करती है शिविर के लिए उत्तम स्थान खोजती है, तम्बू आदि लगाती है । सहायक वर्गो के कार्यो को देखरेख, कोष शस्त्रागार, व अन्न भण्डार के गोदामों की रक्षा, युत्र क्षेत्र मे व्यूह रचना का प्रबन्ध आदि कार्य पैदल सेना करती है ।[5] इसके कार्यो से यह उल्लेख मिलता है कि सारी सेनाओं से ज्यादा पैदल सेना का उत्तरदायित्व राष्ट्र की रक्षा एवं आन्तरिक रक्षा हेतु होता था इसीलिए यह अधिक महत्वपूर्ण अंग समझी जाती थी ।

---

1. पी0सी0 चक्रवर्ती : दि आर्ट आफ वार इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0-16
2. शुक्रनीति, 4/883
3. अग्निपुराण, 124
4. अर्थशास्त्र, 10/4/153-54/17
5. मेजर आर0सी0 कुलश्रेष्ठ एवं शर्मा : भारतीय सैन्य विज्ञान, पृ0- 239 पर नीतिप्रकाशिका से उद्धृत

शस्त्रास्त्र ::–

पैदल सैनिक का मुख्य शस्त्र धनुष–वाण होता था । इसकी सही जानकारी के लिए पैदल सैनिकों को ट्रेनिंग दी जाती थी । एरियन ने झेलम के संग्राम के सन्दर्भ में लिखा है कि भारतीय पैदल सैनिक अपनी लम्बाई के बराबर का धनुष वाण का प्रयोग करते थे, वे इससे वाण छोड़ने के लिए धनुष को भूमि पर टेक कर वायें पांव से सहारा देकर इसकी डोरी खींचते थे । उनके वाण लगभग तीन गज लम्बे होते थे । भारतीय सैनिको द्वारा छोड़े गये वाण को किसी प्रकार का ढाल या कवच अथवा अन्य सुरक्षात्मक वस्तु यदि होतातो रोकने में असमर्थ थी ।[1] एरियन ने धनुष–वाण के अलावा बल्लम एवं चौड़े फल वाली लगभग तीन हाथ लम्बी कृपाल का भी उल्लेख किया है जो आपसी मुठभेड़ की लड़ाई में प्रयोग की जाती थी ।[2] सुरक्षात्मक दृष्टि से चमड़े की ढालों का उल्लेख मिलता है ।[3] जो तिचकबरे कार्दरंग चमड़े की बनी होती थी एरियन ने बैलों की खाल की बनी ढाल का उल्लेख किया है ।[4] कुलश्रेष्ठ ने अपनी पुस्तक में चीनी चात्री ह्वेनच्वांग का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ह्वेनच्वांग के अनुसार प्राचीन भारतीय पैदल सैनिक धनुष, वाण भाले, बल्लम, फरसा, कुठार, गदा, कृपाल तथा बर्छा आदि आक्रामणात्मक और ढाल व कचच सुरक्षात्मक शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करते थे ।[5]

(घ) घुड़सवार सेना :–

घुड़सवार सेना के विकासक्रम में विद्वानों में मतभेद दिखायी देता है । कुछ विद्वान इसे रथ सेना से पहले मानते हैं और कुछ रथ सेना के बाद इसकी उत्पत्ति के बारे में बताते हैं। कुलश्रेष्ठ के अनुसार सांग्रामिक सैन्यबल में तीसरा बल अश्वारोही सैनिकों का है । शुक्र ने इस बल को द्वितीय स्थान दिया है, जो

---

1. एसियेन्ट इण्डिया एण्ड डिस्क्राइब्ड वाई मैगस्थनीज एण्ड एरियन, पृ0–220–21
2. वही, पृ0– 222
3. हर्षचरित, सप्तम अच्छवास, पृ0– 207
4. पूर्वोद्धत, पृ0– 221 मैकपडल

स्वगना–पदाति बल के पश्चात आता है । अन्यगमा बल में इसका प्रथम स्थान है ।[1] वैसे जहां तक यह उम्मीद की जाती है कि अश्व सेना का विकास रथ सेना के बाद हुआ । वैदिक साहित्य में घोड़ों का उल्लेख[2] है लेकिन घुड़सवार सेना का उल्लेख नहीं किया गया है । महाभारत [3] में अष्टांगबल का उल्लेख किया गया है जिसमें घुड़सवार बल का उल्लेख भी है । अश्वसेना का विकास रथ में जूते घोड़ों को स्वच्छन्द करके उनमें और गतिशीलता लाने के लिए किया गया । महाभारतकाल के बाद घुड़सवार सेना का उल्लेख ज्यादा संख्या में मिलता है । ऋगवेद एक ऐसा ग्रन्थ है, जहां पर घोड़ों से सम्बन्धित अनेक मंत्रों का उल्लेख किया गया है । ऋगवेद में अश्व के वीरतापूर्ण कर्म की व्याख्या की गयी है । और अश्व को इन्द्र का प्रतीक मान कर उसकी पूजा की जाती है ।[4] ऋगवेद में ही यह उल्लेख किया गयाहै कि सभी वीर पुरूष अश्व को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं ।[5] और अश्व की सभी वस्तुओं – मुंह की रास, घास आदि को देवशक्ति से पूर्ण होने की कामना की गयी है ।[6] यह भी कामना की गयी है कि सोम जैसे अश्व को रणभूमि में भेजते हो, वैसे ही तुम इन्द्र की औरगमन करो ।[7] इन सब बातों से यह जाहिर होता है कि ऋगवैदिककाल में अश्व का उपयोग यज्ञ एवं संग्राम की दृष्टि से किया जाता था । मनु ने घुड़सवार सेना के बारे में बताया है कि इसका प्रयोग समतल भूमि के युद्धों में करना चाहिए ।[8]

अश्व सेना का उल्लेख ज्यादातर सिकन्दर के आक्रमण से मिलनाशुरू होता है । एक जगह पर उल्लेख है कि पोरस के पास 4000 घुड़सवार सैनिक थे ।[9] सिकन्दर के आक्रमण के समय प्रासाइयों की

---

1. मेजर आर0सी0 कुलश्रेशठ : भारतीय सैन्य विज्ञान, पृ0– 245
2. ऋगवेद, 1/162
3. शान्तिपर्व, 59/41
4. ऋगवेद, 1/162/1,2
5. वही
6. वही, 1/162/8
7. वही, 9/86/3
8. मनुस्मृति, 7/192
9. इनवैजन इण्डिया बाई अलक्जैण्डर, पृ0– 102, मैकृण्डल

सेना में लगभग 80000 घुड़सवार सैनिक थे ।[1] इसी सन्दर्भ में विदेशी लेखकों ने यह भी लिखा है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतीय घोड़ों को उनकी सांग्रामिक उपयेगिता के कारण सेनांग के रूप में महत्वपूर्ण स्थान देते थे ।[2] सिकन्दर के वापस लौट जाने के पश्चात कौटिल्य ने मौर्य साम्राज्य की स्थापना की और उसने इस साम्राज्य में घुड़सवार सैनिकों को महत्व दिया, उसन अश्व सेना की देखभाल के लिए अश्वाध्यक्ष की नियुक्ति की, जिससे यह अलग विभाग का संकेत मिलता है । अश्वाध्यक्ष अश्वों के एकत्रीकरण देखभाल ओर युद्ध शिक्षा का उत्तरदायी होता था ।[3] मैगस्थनीज ने मौर्यकालीन अश्वारोही सैनिकों की संख्या को 30000 बताया है ।[4] आचार्य कौटिल्य ने अश्व सेना को महत्वपूर्ण सेनांग माना है और अश्व सेना के प्रशिक्षण, महत्व एवं कार्यो की विस्तृत व्याख्या की है ।5

कार्य एवं महत्व ::–

गतिशीलता के सिद्धान्त को देखते हुए प्राचीन भारतीय आचार्य अश्व सेना को ज्यादा महत्व देते थे । कौटिल्य ने घुड़सवार सैनिकों के कार्यो पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि भूमि, निवास तथा वन की सफाई घोड़ों के द्वारा की जानी चाहिए । (छिपे हुए शत्रु को हटाना, भूमिनिचय, सेना के पड़ाव में उपद्रव को दूर करना, वासनिचय को और जंगली मार्गो में चोरों को साफ करना, वन निचय कहलाता है) विषम (जहां पर शत्रु आक्रमण न कर सके) तोय (जहां पर जल से भरे तालाब हों) तीर्थ, (नदी के घाट) वात (जहां पर शुद्ध वायु– आ जा सके) और रश्मि (जहां सूर्य का पूर्ण प्रकाश हो), आदि सुविधाजनक स्थानों को पहले ही से अपने कब्जें में कर लेना चाहिए, शत्रु देश से आने वाले जीविकोपार्जन योग्य पदार्थो तथा शत्रु के मित्र की सेना का नाश और अपने पदार्थो एवं सेना की रक्षा, छिपकर प्रविष्ट हुई शत्रु सेना की सफाई

---

1. वही, पृ0– 310
2. मैकृण्डल, एसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 142
3. अर्थशास्त्र 2/30
4. मेजर आर0सी0कुलश्रेष्ठ : भारतीय सैन्य विज्ञान पृ0– 146
5. अर्थशास्त्र, 10/4

और अपनी सेना की दृढ़, स्थिति, धान्य तथा घास आदि का संग्रह, शत्रु सेना को तितर–बितर करना, भुजाओं के समान शत्रु सेना को हटाना, शत्रु सेना पर पहले चढ़ाई करना, शत्रु सेना में घुसकर उसको चौंका देना, शत्रु सेना को तरह–तरह की तकलीफ देना, अपनी सेना को धैर्य देना, शत्रु सेना को घेरना, शत्रु द्वारा गिरफतार अपने सैनिकों को छुड़ाना, अपनी सेना के मार्ग पर शत्रुओं के अधिकार करने पर शत्रु सेना के मार्ग को अपने अधीन कर लेना, शत्रु के कोष तथा राजकुमार का अपहरण करना, पीछे तथा सामने की ओर आक्रमण करना, जिनके घोड़ों मर गये हों, ऐसे सैनिकों का पीछा करना, भागी हुयी शत्रु सेना का पीछा करना और बिखरी हुई अपनी सेनाक ो संगठित करना । ये सभी कार्य घोड़ों के द्वारा आसानी से कराये जा सकते हैं । इसीलिए उन्हें अश्व कर्म कहते हैं ।[1] अश्वों के कार्यो की समीक्षा करते हुए अम्बिका प्रसाद बाजपेयी ने लिखा है कि अश्व सेना के कार्यो के आधार पर ही उनके 13 प्रकारके युद्ध कहे गये हो ।[2] पी0सी0चक्रवर्ती ने अश्व सेना के कार्य एवं महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "अश्वबल सेना की गति का प्रतिनिधित्व करती है । जिस राजा के पास उत्तम अश्व बल रहता है, उसके लिए युद्ध एक क्रीड़ा मात्र बन जाता है । विजयश्री उसके साथ रहती है और दूरस्थ शत्रु भी सरलता से उसके अधीन हो जाते हैं ।[3] उन्होंने आगे यह भी लिखा है कि अश्व बल कीर्ति की कुंजी है । जिस राजा के पास श्रेष्ठ अश्व बल है वह अपनी सीमा रक्षा के लिए कभी भी भयभीत नहीं हो सकता है ।[4] इस प्रकार घुड़सवार सैनिकों के कार्य एवं महत्व को देखकर यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि प्राचीन भारतीय आचार्य घुड़सवार सैनिकों पर अधिक विश्वास करते थे ।

---

1. अर्थशास्त्र, 10/4/153–154/11–14
2. अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : हिन्दू राजशास्त्र, पृ0– 257
3. पी0सी0 चक्रवर्ती : आर्ट आफ वार इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 36
4. वही

घोड़ों का चुनाव एवं प्रशिक्षण ::::-

इस बात पर विश्वास किया जा सकता है कि प्राचीन भारतीय अच्छे किस्म के घोड़ों से हमेशा वंचित रहे हैं । इस कमी को दूर करने के लिए भारत हमेशा बाहरी देशों से घोड़ों को खरीदता था , जिसके आधार पर घोड़ों की संख्या एवं उसकी किस्में कई हो गयी ।वाण ने अपने हषचरित में हर्श की सेना में पाये जाने वाले घोड़ों का विवरण इस प्रकार किया है =- "हर्श की सेना में वनायु (वजीरिस्तान), आरट्ट (वाहीक या पंजाब), कम्बोज (मध्य एशिया वंक्षु नदी का पामीर प्रदेश), भारद्वाज (उत्तरी गढ़वाल) सिन्धु देश और पारसीक (सासानी, ईरान), से घोड़ों के आयात का उल्लेख किया है ।[1] वाण ने पंचभद्र, मल्लिकाक्ष और कृत्तिकापिंजर घोड़ों को शुभ लखणों वाले बताया है ।[2] घोड़ों की वनावट के सन्दर्भ में उनहोने लिखा है कि अच्छे घोड़े का मुंह लम्बा और पतला, कान छोटे घांटी (सिर और गर्दन का जोड़) गोल, चिकनी और सुडौल गर्दन ऊपर उठी हुई और यूथ के अग्रभाग की तरह लम्बी ओर टेढ़ी, कन्धों के जोड़ मांस से फूले हुए छाती निकली हुई, टांगे पतली ओर सीधी, सुर लोहे की तरह कड़े, पेट गोल, पुट्ठे चोड़े और मांसल होने से उठे हुए, पूंछ के बाल पृथ्वी को छूते हुए होने चाहिए ।[3] कौटिल्य ने घोड़ों को तीन वर्गों में बांट कर उनकी उत्तमता के बारे में परख की है । उनके अनुसार जिस घोड़े की खाब बत्त्तीस अंगूल, लम्बाई एक सौ साठ अंगुल, जंघा बीस अंगुल ओर ऊंचाई अस्सी अंगुल हो वह उत्तम होता है । उससे तीन अंगुल कम परिमाण का घोड़ा मध्यम और उससे भी तीन अंगुल कम परिमाण का घोड़ा अधमकोटि का समझना चाहिए । उत्तम घोड़े की मोटाई सौ अंगुल, मध्यम घोड़े की मोटाई अस्सी अंगुल और अधम घोड़े की मोटाई चौंसठ अंगुल होती है ।[4] सांग्रामिक कार्य के लिए घोड़ों को आयु, बल और आकार के आधार पर चुना जाता था । कोटिल्य ने अश्वाध्यक्ष को घोड़ों की आयु, वर्ण चिन्ह, वर्ग व कुल के अनुसार सूची बनाने का आदेश दिया है ।[5]

---

1. वासुदेव शरण अग्रवाल / हर्शचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 41
   अर्थशास्त्र 2/30/32/33,34
2. पूर्वोद्धृत, पृ0- 42
3. हर्शचरित, द्वितीय अच्छवास, पृ0- 62, 63 तथा अर्थशास्त्र 2/30
4. अर्थशास्त्र 2/46/30/8
5. वही 2/30/1

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में घोड़ों को प्रशिक्षत करने का भी उल्लेख किया है । उनका कहना है कि घोड़ों को नियमित प्रशिक्षित करन से उन्हें हमेशा युद्ध के लिए तत्पर रखा जा सकता है । उनका यह भी कहना है कि घोड़ों को उनकी गति के अनुसार युद्ध कार्यो में प्रयुक्त करना चाहिए । सवारी या खेलों एवं युद्ध में प्रयुक्त किये जाने वाले घोड़ों की चाल के पांच भेद हैं –

(1) बल्गन,

(2) नीचैर्गत

(3) लांघन

(4) घोरण

(5) नारोष्ट्र [1]

मंडलाकार चक्कर लगाने को वल्गन कहते हैं । वह छः प्रकार का होता है ।[2] (1) औपवेणुक (एक हाथ के गोल घेरे में घूमना (2) वर्घमानक (उतने ही घेरे में कई बार घूमना), (3) यमक (बराबर के दो घेरे में एक साथ घूमना), (4) आलीढप्लुत (एक पैर को समेटकर और दूसरे पैर को फैला कर छलांग मारना और तत्काल ही धम जाना), (5) पूर्वग (शरीर के अगले हिस्से के सहारे घूमना), (6) त्रिकचाली (पूट्ठों और पिछली दो टांगों के सहारे धूमना),

सिर और कान में किसी प्रकार की कंपन पैदा किये बिना ही गोल घेरे में चक्कर लगाना ही नीचैर्गत कहलाता है । उसके सोलह प्रकार हैं ।[3]

(1) प्रकार्णक (सभी चालें एक साथ मिली हुई हों)

(2) प्रकीणोत्तर (सभी चालें एक साथ मिली हुई होंने पर भी एक चाल का मुख्य होना)

---

1. वही, 2/46/30–15
2. पूर्वोद्धृत, पृ0– 16
3. पूर्वोद्धृत, पृ0– 17

(3) निषपण (पीठ पर कम्पन किये बिना ही किसी विशेष चाल को निकालना)

(4) पार्श्वानुवृत्त (एक ही ओर तिरछी चाल चलना)

(5) अमिंमार्ग (लहरों जैसी ऊंची–नीची चाल चलना)

(6) शरभक्रीडित (तरूण हाथी की तरह क्रीडा करते हुए चलना)

(7) शरमप्लुत (तरूण हाथी की तरह कूदकर चलना)

(8) त्रिताल (तीन पैरों से चलना)

(9) ब्राह्यानुवृत्त (दाये–बायें घेरा बनाकर चलना)

(10) पंचपाणि (पहले तीन पैरों को एक साथ रखकर फिर एक पैर को दो बार रखकर चलना)

(11) सिंहायत (शेर के समान लम्बी चाल भरना)

(12) स्वाघूत (लम्बी कूद भरना)

(13) क्लिष्ट (बिना सवार के ही चलना)

(14) श्लिंगित (शरीर के अगले हिस्से को झुंका कर चलना)

(15) बृंहित (शरीर के अगले हिस्से को ऊंचा करके चलना)

(16) पुष्पाभिकीर्ण (टेढ़ी–मेंढ़ी चाल चलना)

कूदकर चलने वाली चाल का नाम लंघन है उसके सात प्रकार हैं ।[1]

(1) कपिप्लुट (बन्दर की तरह कूद कर चलना)

(2) भेकप्लुत (मेढ़क की तरह कूदकर चलना)

(3) एणप्लुत (हरिण की तरह छलांग मारकर चलना)

(4) एकपादप्लुत (तीन पैरों को समेट कर एक पैसे से ही छलांग मारकर चलना)

---

1. अर्थशास्त्र, 2/46/30/18

(5) कोकिल संचारी (कोयल की तरह फुदक कर चलना)

(6) उरस्य (पैरों को समेट कर छाती के बल कूद कर चलना)

(7) बकचारी (बगुले की तरह बच में धीरे–धीरे चलकर सहसा एक साथ कुदकर चलना)

धीरे–धीरे चलकर सहसा सरपट चाल से चलना घोरण कहलाता है ।[1] इसके आठ प्रकार होते हैं::–

(1) कांक (बगुले की चाल चलना)

(2) वारिकांक्ष (बत्तख की चाल चलना)

(3) मायूर (मोर की चाल चलना)

(4) अर्धमायूर (आधी चाल मोर की चलना)

(5) नाकुल (नेवले की चाल चलना)

(6) अर्धानाकुल (आधी चाल नेवले की चलना)

(7) वराह (सुअर की चाल चलना)

(8) अर्धवराह (आधी चाल सुअर की चलना)

सिखाये हुए इशारों पर चलना नाटोष्ट्र कहलता है ।[2]

शस्त्रास्त्र ::–

घुड़सवार सैनिकों के पास अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों के होने का उल्लेख मिलता है । एरियन ने लिखा है कि भारतीय घुड़सवार दो भाले का प्रयोग करते थे जिन्हें सौनिय कहा जाता था पदाति सैनिकों से भी छोटा ढाल भी रखते थे ।[3] गुप्तकाल का सिक्का धनुष, वाण एवं कृपाण का उल्लेख कराता है ।

---

1. अर्थशास्त्र, 2/46/30–19
2. वही, 2/46/30–20
3. एसियेन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मेगसथनीज एण्ड एरियन, मैकृण्डल, पृ0– 211

कालिदास के रघुवंश, राजतरंगिणी मानसोल्लास तथा गुप्तकालीन सिक्कों के अनुसार घोड़े भी कवचित होते थे[1] महाभारतकाल में साग्रामिक घोड़ों को सोने तथा लोहे के कवच से आच्छादित किया जाता था। अश्वारोंही सैनिक गोह के चमड़े से बने अंगुलित्राण, लोहे के बने शिरस्त्राण और सोने का कवच धारण करता था। सधनुष अश्वारोही कंधे पर तूणीर बांधे, कमर में तलवार लटकाये अश्व युद्ध के लिए हाथ में भाला लेकर जाते थे।[2] कौटिल्य ने लिखा है कि घुड़सवार सैनिक कवच का प्रयोग करते थे। उन्होंने आगे यह भी लिखा है कि शुद्ध अश्व व्यूह के समय मध्य में कवचित घुड़सवार सैनिक और पार्श्व में अकवचित सैनिक होते थे।[3] एरियन ने एक जगह लिखा है कि घोड़े के ऊपर जीन नहीं चढ़ाया जाता था।[4] लेकिन हर्ष–चरित में यह उल्लेख मिलता है कि स्वयं हर्ष ने अपने सम्मुख खड़े युवक को घोड़े पर जीन कसवाने की आज्ञा दी थी।[5] इस प्रकार यह पाया जाता ळे कि भारतीय अश्व सेना अच्छे किस्म के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर युद्ध क्षैत्र तक जाती थी। यह अश्व सेना कवचित भी हुआ करती थी। जिससे आक्रमणात्मक एवं सुरक्षात्मक शस्त्रास्त्रों का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

(ड.) रथ सेना :::–

ऋगवैदिककाल में पैदल सेना के बाद रथ सेना, सेनांग का मुख्य अंग मानी जाती थी और यह स्थल यातायात का एक प्रमुख साधन समझा जाता था। इसके विकास के पीछे जो तर्क दिया जा सकता है वह यह कि जब आर्यो को अपने राज्य विस्तार हेतु दूर–दूर तक सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी तो वे शास्त्रास्त्र एवं साधनों को एक साथ किसी वाहन द्वारा ही ले जा सकते थे, ऐसे में उन्होंने रथों का निर्माण किया। इससे प्रमुख लाभ यह भी रहा कि रथ में सवार सैनिक नगर के ऊंचे परकोटों के पार देख सकता

---

1. रघुवंश, 5/56
2. योगेन्द्र कुमार शर्मा, प्राचीन भारतीय राजनय एवं युद्धतकनीक, पृ0– 105
3. अर्थशास्त्र, 10/5
4. पूर्वोद्धृत पृ0– 221
5. हर्षचरित, पंचम उच्छ्वास, पृ0– 152

था । शुक्र ने अन्यगमा में रथ सेना को प्रमुख स्थान दिया है ।[1] ब्रम्हणकाल का साहित्य यह बताता है कि रथ सेना ऋगवैदिककाल से ज्यादा महत्वपूर्ण इस काल के लिए हो गयी थी । तैत्रियब्राम्हण[2] में रथकार का उल्लेख मिलता है । ऐतरेय ब्राम्हण [3] में भी कई स्थलों पर रथों का उल्लेख मिलता है । महाभारतकाल तक यह सेना सबसे श्रेष्ठ हो गयी । डा0 चक्रवर्ती ने इस काल को रथों का युग कहा है । उन्होने लिखा है कि रथसवार सेनानी एक सेना के समान होता है ।[4]रथ सेना का उल्लेख मौर्यकाल तक ज्यादा दिखाई देता है । मौर्य साम्राज्य के बाद इस सेना में अवनति होने लगी ।

रथसेना की महत्ता में निखार वैदिककाल में ही था । क्योंकि उस समय यह प्रार्थना की गयी है कि हे इन्द्र तुम हमें चलते–फिरते महिदुर्गो अर्थात रथों से सुसज्जित करो ।[5]अथर्ववेद में यह कहा गया है कि रथी सेना पदाति सेना पर विजय प्राप्त करती थी ।[6] शुक्रनीति में यह उल्लेख मिलता है कि सेना में हाथियों से आधे रथ होने चाहिए ।[7] रथ सेना की प्रशंसा करते हुए डा0 पी0सी0 चक्रवर्ती ने लिखा है कि रथी सुन्दर शस्त्रों से सुसज्जित होता था तथा अकेला ही असंख्य सेना से लड़ सकता था ।[8]

कार्य :–

रथसेना में गतिशीलता होने के कारण यह प्रायः समझा जाता था कि यह सेना शत्रु से जल्द ही निकट सम्पर्क बना लेती है तथा पैदल सेना के रक्षार्थ कार्य शुरू कर देती है । इस कार्य पर प्रकाश डालते हुए आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि "अपनी सेना की रखा करना, आक्रमण के समय शत्रु सेना को रोकना, शत्रु के बलवान सैनिकों को पकड़ना, अपने गिरफतार सेनिकों को छुड़ाना, अपनी सेना को संगठित करना तथा शत्रु सेना को तितर–बितर करना भयभीत करके शत्रु की सेना को धबड़ाना, अपनी सेना का

---

1. शुक्रनीति, 4/884
2. तैतिरियब्राम्हण, 3/9/11
3. ऐतरेय ब्राम्हण, 4/8/3
4. पी0सी0चक्रवर्ती : आर्ट आफ वान इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0–23
5. ऋगवेद, 8/12/3
6. अथर्ववेद, 7/62/1
7. शुक्रनीति, 4/884
8. पी0सी0चक्रवर्ती : दि आर्ट आफ वार इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0–23

महत्व प्रकट करना और भयंकर आवाज करना । ये सभी कार्य रथकर्म अर्थात रथ सेना के द्वारा सम्पादित होते हैं ।[1] इस कार्य को सम्पादित करने के लिए रथी, सारथी एवं रथाध्यक्ष नियुक्त किये जाते थे ।प्रारम्भ में तो रथी ही सारथी होता था ।[2] लेकिन ऐतरेयब्राम्हण में रथी एवं सारथी का अलग–अलग उल्लेख मिला है[3] महाभारत[4] में स्पष्ट रूप से रथी एवं सारथी अलग–अलग मिले, जिसमें अर्जून एंव कृष्ण का उदाहरण उल्लेखनीय है । मैगस्थनीज ने जहां इस बात का उल्लेख किया है कि एक रथ पर दो रथी एवं एक सारथी होता था, वहीं ऋगवेद में यह उल्लेख मिलता है कि एक रथ पर आठ व्यक्ति बैठते थे ।[5] कर्टियस ने एक स्थल पर उल्लेख किया है कि भारतीय रथों मे छः व्यक्ति होते थे जिसमें दो रथी ढाल लिए हुए, अन्य दो रथी धनुष, वाण लिए हुए तथा शेश दो सारथी शस्त्रों से सुसज्जित होते थे ।[6]

रथ के प्रकार :::–

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे रथों को श्रेणीबद्ध करने में कुछ माप, दण्ड रखा है जिसके अनुसार एक जगह पर उन्होने सात प्रकार एवं दूसरी जगह छः प्रकार के रथों का वर्णन किया है । उन्होने माप–तौल के अनुसार रथों का वर्गीकरण करते हुए लिखा है कि एक सौबीस अंगुल ऊंचा और उतना ही लम्बा रथ उत्तम कोटि का माना जाता है । सबसे बड़ा रथ बारह बित्ता लम्बा होता है । उसमें एक–एक बित्ता कम करके अन्त में सबसे छोटा रथ छः बित्ते का होता है । इस प्रकार रथ सात प्रकार के होते हो ।[7] उन्होने रथों के प्रयोग के अनुसार छः प्रकार बताया है । उनका कहना है कि रथाध्यक्ष को चाहिए कि वह विभिन्न कार्यो के उपयोगी देवरथ (यात्रा उत्सव आदि के लिए) पारियाणिक (सामान्य यात्रा के लिए) पुष्परथ

---

1. अर्थशास्त्र, 10/153–154/4/12
2. ऋगवेद, 1/34/7–9
3. ऐतेरेयब्राम्हण, 4/8/1–4
4. महाभारत, शान्तिपर्व, वनपर्व, भीष्मपर्व, द्रोणपर्व
5. रामगोविन्द त्रिवेदी : हिन्दी ऋगवेद, 1293/7
6. कर्टियस, 8,14 मैकृण्डल, तथा राधाकुमुद मुकर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिट टाइम्स पृ0– 175
7. अर्थशास्त्र 2/33/49–50/4

(विवाह आदि कार्यो के लिए) सांग्रामिक(युद्ध आदि कार्यो के लिए), परपुराभियानिक (शत्रु के दुर्ग को ढाहने के लिए), और वैनयिक (घोड़े आदि को सिखाने के लिए) आदि अलग-अलग रथों का निर्माण करवाये ।[1] यह सर्वामान्य है कि रथों में घोड़े जाते जाते थे लेकिन कहीं-कहीं खच्चर, गदहों द्वारा भी रथ चलाया गया है, ऐसा उल्लेख है । इन्दजीत के रथ में खच्चर जोते गये थे ।[2] रथों की पहचान उस पर लगे ध्वज से की जाती थी ।

शस्त्रास्त्र ::-

रथ सेना अपने साथ सुरक्षात्मक एवं आक्रमणात्मक दोनों प्रकार के शस्त्र रखते थे । द्रोणपर्व में यह उल्लिखित है कि रथें में भिन्न-भिन्न रंग यथा ऋक्ष, रजत, सारंग, सौवर्ण, कृष्ण, तित्तिर तथा शुक्र पक्ष के घोड़े जाते थे । रात के समय रथ पर पांच दीपक जलते थे और छत्र, ध्वज, सारथी, त्रिवेणु चक्र तुणीर, अनुकर्ण, पताका एवं चक्र रक्षक रथी के उपकरण होते थे ।[3] कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में रथाध्यक्ष को शस्त्रास्त्र विद्या में पारंगत होने का उपदेश देते हुए शस्त्रों का वर्णन इस प्रकार किया है :-"रथाध्यक्ष को जाहिये कि वह वाण, तुणीर, घनुष, अस्त्र, तोमर, रथ के झूलों ओर लगाम आदि सामग्री के सम्बन्ध में पूरी जानकारी रखनी चाहिए ।[4]उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में रथ सेना पूर्ण सुसज्जित होकरयुद्ध क्षेत्र में जाती थी । रथों का कवचित होना भी सुरक्षात्मक दृष्टिकोण से प्राचीन आचार्य इसकी मान्यता देते हैं ।

(च) गज सेना :-

महत्व :-

गज सेना प्राचीन भारत की एक मुख्य सेना के रूप में मानी गयी है ।गज का उपयोग वाहन

---

1. अर्थशास्त्र, 2/33/49-50/4
2. युद्धकाण्ड, 73/8
3. द्रोणपर्व, 36
4. अर्थशास्त्र, 2:/33/49-50/5

के रूप में किया जाता था, साथ ही इससे सांग्रामिक कार्य भी लिया जाता था । अपने सांग्रामिक बल पर ही गजों ने विदेशियों को अपने तरफ आकर्शित किया । भारत ने हाथी के लिए विदेशियों की भिक्षा स्वीकार करके उन्हें समय–समय पर हाथी प्रदत्त किया । कुलश्रेश्ठ ने लिखा है कि 280 ई0 पू0 प्रथम बार भारतीय हाथियों ने एपिरस के राजा पीर्रहस की सेना में सम्मिलित होकर इटली प्रदेश की भूमि पर हिरेक्ली के युद्ध में भाग लिया था ।[1] भारतीय हाथियों ने सिकन्दर महान की सेना में ऐसा आतंक मचाया कि सिकन्दर यह कह उठा – ये हाथी ही हैं जो हमारी सेना में भय पैदा कर दिये हैं ।[2] इस तरह यह कहा जा सकता है कि शत्रु पक्ष में भय एवं उनका साहस तोड़ने आदि कार्यवाही हेतु हाथी बल का प्रयोग बहुत ही सफल रहता है । यही कारण है कि सैल्युकस ने चन्द्रगुप्त मौर्य से 500 हाथियों की मांग की थी । भारतीय हाथी ईरान भी भेजे गये थे । सासानी सेना में भारतीय हाथी के होने का विवरण है ।[3] उपरोक्त विवरण से प्राचीन भारतीय गज सेना की महत्ता झलकती है । कुलश्रेश्ठ ने हाथियों के महत्व को उद्धृत करते हुए लिखा है कि पालकाप्य ने भी हस्त्यायुर्वेद में हाथी के महत्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जैसे सुमेरू (पर्वत) विश्व का, चन्द्र–रात्रि का. विद्या मनुष्य का अलंकार है वैसे ही हाथी सेना का । वे आगे लिखते हैं कि जहां सत्य है, वहां धर्म है, जहां धर्म है वहां कुशलक्षेम है, जहां सुन्दरता है वहां सज्जनता ओर जहां हाथी है वहां विजय है ।[4] कामन्दक का उदाहरण देते हुए पी0सी0चक्रवर्ती ने लिखा है कि राजाओं के राज्य हाथियों पर ही अवलम्बित है और एक युद्धक्रिया में सुशिखित व शस्त्रास्त्र में सुसज्जित हाथी छः हजार अश्वों से संघर्श करने कीक्षमता रखता है ।[5] इससे यह स्पष्ट होता है कि वास्तव में हाथी, अश्व एवं अन्य सेना से श्रेष्ठ थी । ऋगवेद में हाथियों के बारे में विस्तृत विश्लेषण नहीं किया गया है । हां, एक जगह पर यह उल्लेख है कि हाथी पर शासन करने वाले अंकुशक के समान ही भगवान सब जीवों पर अंकुश रखता है और उसके समान ही शत्रुओं का दमन तथा स्वजनों का कल्याण करता है ।[6] ऋगवेद में ही एरावत हाथी का वर्णन मिलता है, जो इन्द्र

---

1. मेजर आर0सी0 कुलश्रेष्ठ : भारतीय सैन्य विज्ञान, पृ0– 250
2. कर्टियस, 8/14, इनवैजन बाई अलैक्जैण्डर, पृ0– 213
3. वासुदेव शरण अग्रवाल : हर्षचरित – एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0– 40
4. मेजर आर0सी0कुलश्रेश्ठ : भारतीय सैन्य विज्ञान, पृ0– 251
5. पी0सी0चक्रवर्ती : दि आर्ट आफ वार इन एसियेन्ट इण्डिया पृ0–48
6. ऋगवेद, 10/106/6

का वाहन माना गया है । इससे स्पष्ट है कि हाथियों की सांग्रामिक उपयोगिता थी जिसके कारण उन्होने हाथियों को सांग्रामिक कार्यो हेतु पालन करना स्वीकार कर लिया । क्योंकि हाथी एक विनाशक पशु था और शत्रु दलन के लिए उसका प्रयोग उपयोगी हो सकता था ।[1] हाथियों के महत्व को आर्य एवं अनार्य भी ठुकरा न सके । उन्होने शत्रुपक्ष के दुर्ग एवं प्राचीरों को तोड़ने में हाथियों का प्रयोग किया । दूर–दूर तक युद्ध संक्रिया सम्पादित करने एवं राज्य विस्तार हेतु हाथियों का प्रयोग किया, जो गज सेना के महत्व को निखारता है ।[2] रामायण एवं महाभारतकाल तक गज सेना का विकास अत्यधिक हो गया । मनु ने अपनी मनुस्मृति में यह लिखा है कि अल्पादक (थोड़े पानी) में हाथी का प्रयोग करना चाहिए ।[3] शान्तिपर्व में यह उल्लेख है कि पानी, दुर्ग तथा वृक्षों से युक्त भूमि में हाथी बहुत उपयेगी सिद्ध होते थे ।[4] कामन्दकीय में यह लिखा है कि हस्ति सेना राजा का प्रधान सेनांग है क्योंकि इसकी सहायता से कमजोर पार्श्वो पर भी उसे विजय मिल जाती है ।[5] कौटिल्य का मत है कि जिस राजा के पास अधिक गज सेना होती है उसे विजय अवश्य मिलती है ।[6] क्योंकि यह शत्रु का विनाश करने का प्रमुख साधन है ।[7] शुक्र ने लिखा है कि सेना में एक चौथाई सेना हाथियों की होनी चाहिए ।[8] वाण के सदृश ही कौटिल्य ने हाथियें को गतिमान दुर्गो की संज्ञा दी है ।[9]

विकास ::–

ऋगवैदिककाल में गज सेना का कोइ विशेष उल्लेख नहीं है । हां, एक जगह पर यह उल्लेख है कि दो हाथियों का सूंड उठायें, माथा झुकाएं एक साथ शत्रु की ओर अग्रसर हुए । इससे स्पष्ट होता है

---

1. ऋगवेद, 4,4,1 एवं 8,33,8
2. मनुस्मृति, 7/192, एवं प्राचीन भारतीय राजनय एवं युद्ध तकनीकः योगेन्द्र कुमार शर्मा, पृ0–105
3. मनुस्मृति, 7/192
4. शान्तिपर्व, 104
5. कामन्दकीयनीतिसार, 16/62
6. अर्थशास्त्र, 2/2
7. वही, 7/11
8. शुक्रनीति, 4/884
9. अर्थशास्त्र, 10/4

कि उस समय सामान्य रूप में हाथी रहते थे । महाभारतकाल तक आते–आते चतुरंग बल का उल्लेख स्पष्ट रूप में हो गया, जो गज सेना के अस्तित्व के बारे में उल्लेख करता है । धीरे–धीरे गज सेना मे बढ़ोत्तरी होती रही । चन्द्रगुप्तकाल तक यह संख्या लगभग9000 तक पहुंच गयी । इस काल के बाद भी गज सेना में निरन्तर विकास होता रहा है ।

सांग्रामिक कार्य ::–

आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में गज सेना के कार्यो को निम्नप्रकार बताया है :–"अपनी सेना के आगे–आगे चलना, पहले से तैयार न हुए मार्ग, निवास, घाट आदि का बनाना, भुजाओं के समान शत्रु सेना को तितर–बितर करना, नदी की गहराई बताने के लिए उसके भीतर प्रवेश करना, पंक्ति में खड़ा होकर शत्रु के आक्रमण को रोकना । इसी प्रकार मार्ग में चलना, इसी प्रकार नीचे उतरना, घने जंगल तथा शत्रु की सेना में घुसना, शत्रु के पड़ाव में आग लगाना और अपने पड़ाव में लगी हुयी आग को बुझाना, अकेले ही शत्रु पर विजय प्राप्त करना, अपनी बिखरी हुई सेना को संगठित करना, शत्रु की संगठित सेना को तितर–बितर करना, आपत्ति के समय अपनी सेना की सहायता करना और शत्रु सेना को कुचलना, अपने को दिखाने मात्र से ही शत्रु को घबड़ा देना, मदबिह्वल होकर शत्रु को विचलित कर देना, अपने अस्तित्व से अपनी सेना के महत्व को प्रकट करना, शत्रु के योद्धाओं को पकड़ना, शत्रु के परकोटे, प्रधान द्वारा तथा अटारी आदि को ध्वस्त करना, शत्रु के योद्धाओं को पकड़ना, शत्रु के परकोटे, प्रधान द्वारा तथा अटारी आदि को ध्वस्त करना, शत्रु के कोष तथा सवारी आदि को भगा ले जाना । ये सभी कार्य हाथियों के द्वारा सम्पादित होने चाहिए ।[1] इन कार्यो की पुष्टि प्लूटार्क ने अपनी पुस्तक में की है ।[2] अग्निपुराण भी हाथियों के कार्यो को इसी प्रकार बताया है ।

---

1. अर्थशास्त्र, 10/153–54/12
2. इनवैजन आफ अलैक्जेण्डर, पृ0– 212 (मैकृण्डल)

हाथियों की श्रेणियां तथा प्रशिक्षण ::–

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में हाथियों के पकड़ने के बाद, उसके कार्यभेद के आधार पर चार भागों में बांटा है :– [1]

(1) दभ्य (शिक्षा देने योग्य)

(2) साताह (युद्ध के योग्य)

(3) औपवाह्य (सवारी के योग्य)

(4) व्याल (घातक वृत्तिवाला)

इसमें दभ्य हाथी पांच प्रकार की होती हैं । [2] (1) स्कंधगत (जो सूड का सहारा देकर सवार को अपने ऊपर बैठा ले) (2) स्तम्भगत (जो हाथी खूंटी पर बंधा रह सके), (3) वारिगत (हाथियों को फसाने वाली भूमि पर आ जाने वाला), (4) अवपातगत (हाथियों को फंसाने के लिए जंगलों में बनाये गये घासफूस के गढ्ढों में आये हुए), (5) यूथगत (जो हथिनियों के साथ विहार करने में व्यसनी हो) । इस प्रकार दभ्य हाथी की परिचर्या हाथी के बच्चे के समान करनी चाहिए ।

सन्नाहा हाथी कार्य–भेद के अनुसार सात प्रकार के होते हैं :[3]– (1) उपस्थान (आगे–पीछे के अंगों को ऊंचा नीचा, छोटा, बड़ा करने वाला तथा रस्सी, बांस, ध्वजा आदि को लांघने वाला), (2) संवर्त्तन (सो जाने, बैठ जाने तथा कूदने–फांदने वाला), (3) संयान (सीधी–तिरछी, गोलाकार चालों को समझने वाला), (4) बघाबध (सूड़, दांत आदि से प्रहार करने या पकड़ लेने वाला), (5) हस्तियुद्ध (हर प्रकार के हाथियों से लड़ने वाला), (6) नगरायण (नगर आदि को नष्ट करने वाला), (7) सांग्रामिक (खुलेआम युद्ध करने वाला) ।

---

1. अर्थशास्त्र, 2/48/32/1
2. वही, 2/48/32/2
3. वही, 2/48/32/3

सन्नाह्य हाथी के बारे में कौटिल्य ने लिखा है कि ऐसे हाथी को एसी शिक्षा दी जानी चाहिए कि वह रस्सी बांधने, गले में फन्दा डालने और झुण्ड के अनुकूल कार्य करने में चतुर हो जाय ।

औपवाह्य हाथी के आठ भेद आचार्य कौटिल्य ने बताया है –[1] (1) आचरण (उठने, बैठने झुकने, मुड़ने आदि अनेक प्रकार की गतियों को जानने वाला), (2) यष्ट्युपवाह्य (ताड़ने पर भी कार्य न करने वाला), (3) कुंजरौववाह्य (दूसरे हाथियों के साथ चलने वाला), (4) घोरण (एक ही ओर से अनेक चाल दिखाने वाला), (5) आधानगतिक (अनेक प्रकार की चाल चलने वाला), (6) तोत्रोपवाह्य (वरछी मारने पर भी कार्य न करने वाला), (7) शुद्धोपवाह्य (बिना ताड़े, पैर के इशारे से कार्य करने वाला), (8) मार्गायुक (शिकार सम्बन्धी कार्यों में निपुण) । आचार्य कौटिल्य ने आगे लिखा है कि इनको शिक्षा देते वक्त इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो हाथी अधिक मोटे हों उन्हें दुबला बनाया जाय, जो स्वस्थ हो उनकी रक्षा की जाय, जो मेहनत न करता हो उससे मेहनत करवाया जाय । इसी प्रकार प्रत्येक हाथी को हर प्रकार के इशारों की शिक्षा दी जानी चाहिए ।

कार्य बिगाड़ देने वाले दुष्ट हाथी को "व्याल" कहते हैं । इसके चार भेद हैं –[2] (1) शुद्ध (जो केवल मारने वाला हो), (2) सुव्रत (जो ठीक से न चलता हो), (3) विषम (जो मारता भी हो और ठीक ढंग से चलता भीन हो), (4) सर्वदोषप्रदुष्ट (जिसमें सभी बुराइयां हों)

शस्त्रास्त्र :–

गज सेना के पास तोमर, धनुष, वाण, तरकश तथा अन्य प्रकार के यंत्र होते थे जिससे शत्रु के चलते फिरते कूटयंत्र फंसाए जाते थे । हाथी रक्षा कवच का भी उपयोग करता था । अग्निपुराण में एक जगह यह उल्लेख किया गया है कि हाथी पर छः सवार बैठते थे, जिसमें दो उसकी गर्दन पर गदा

---

1. अर्थशास्त्र, 2/48/32/4
2. वही 2/48/32/5

लेकर, दो उसकी पीठ पर धनुष–वाण लेकर और शेष दो उसके पिछले भाग पर कृपाण लेकर बैठते थे ।[1] उपरोक्त विवरण से गजारूढ़ सैनिक के पास पाये जाने वाले शस्त्रास्त्रों का विस्तृत उल्लेख मिलता है ।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि गज सेना भारत की सर्वश्रेष्ठ सेना थी ।

(छ) मौल बल ::–

यह मूलस्थान अर्थात राजधानीकी रक्षा करने वाली सेना होती है । सम्भवतः यह सेना लम्बे समय से कार्य एवं वेतन प्राप्त कर स्थायी रूप धारण कर ली होगी । युद्ध के लिए मौलबल कैसे तैयार हो उसका निरूपण अर्थशास्त्र में आचार्य कौटिल्य ने इस प्रकार किया है – "मैलूस्थान अर्थात राजधानी की रक्षा के लिए जितनी सेना की अपेक्षा हो, उसके अतिरिक्त सेना को युद्ध में ले जाना चाहिए अथवा मौलबल के बगावत कर देने की सम्भावना हो तो उसको युद्ध आदि कार्यो में साथ ले जाना चाहिए या मुकाबले में आये हुए शत्रु पर मौलबल के अनुराग की सम्भावना जान पड़े तो उसको साथ ले जाना चाहिए अथवा शत्रु किसी शक्तिशाली सैन्य को लेकर युद्ध करने के लिए आया है, तब भी मोलबल को साथ ले जाना चाहिए अथवा दूर देश, दीर्घकालीन युद्ध, क्षय–व्यय की अवस्था में भी मौलबल को साथ रखना चाहिए, अथवा स्वामिभक्त शत्रु के दूत मेरी सेना में भेद डालने का यत्न करेंगे तथा दूसरी सेनाओं पर पूरा विश्वास न होने कीस्थिति में भी मौलबल को लेकर युद्ध में जाना चाहिए । क्योंकि मौलबल अत्यन्त स्वामिभक्त होने के कारण फोड़ा नहीं जा सकता है अथवा अन्य सेनाओं के प्रधान पुरूषों का नाश हो जाने पर यदि विजिगीषु को सेना के खेत छोड़कर भाग जाने का भय हो तो मौलबल को युद्धक्षेत्र में साथ ले जाना चाहिए ।[2]

(ज) मृतक बल :–

इसे सवैतनिक सेना कहा गया है । इसे नौकरी देकर बनायी गयी सेना भी कहा जा सकता है सम्भवतः यह सेना युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व एकत्रित की जाती है । इस सेना को युद्ध के लिए कैसे तैयार

---

1. वी0आर0 रामचन्द्र दिक्षितार : वार इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 170
2. अर्थशास्त्र, 9/137–39/2/2

रखा जाय, इसका निरूपण भी कौटिल्य ने इस प्रकार किया है ::–

यदि विजिगीषु राजा यह समझे कि "मौलबल की अपेक्षा मेरा मृतक बल अधिक है अथवा शत्रु का मौलबल थोड़ा अविश्वासी है अथवा शत्रु का भृतकबल कमजोर या न होने के बराबर है अथवा इस समय शत्रु के साथ तुष्णी युद्ध करना पड़ेगा, अथवा थोड़े ही श्रम से कार्य सम्पन्न हो जायेगा अथवा युद्ध का गन्तव्य देश बहूत दूर नहीं है, समय भी थोड़ा ही लगेगा औरअधिक क्षय–व्यय की सम्भावना नहीं है, अथवा शत्रु के गुप्तचर मेरी सेना में बहुत कम प्रवेश कर सकेंगे और वे भी भेद न डाल सकेंगे यदि उन्होने भेद डाल भी दिया तो अपनी विश्वस्त सेना को मैं अपने काबू में कर सकूंगा अथवा शत्रु के थोड़े ही कार्यो की क्षति करना है, तो ऐसी स्थितियों में एवं ऐसे अवसरों पर भृतबल को साथ लेकर उसको युद्ध में जाना चाहिए ।[1]

(झ) श्रेणी बल ::–

इस बल को अर्थशास्त्र में विभिन्न कार्यो में नियुक्त शस्त्रास्त्र में निपुण सेना माना गया है । शायद उस समय विभिन्न वर्ग के लोग एक सा व्यवसाय करने वाले अपना संघ बना लेते थे । उनमें से कुछ व्यक्तियों का लडाकू संघ भी होता था जो अपनी आजीविका का मूल साधन शस्त्र प्रयोग समझता था ।

इस सेना का प्रयोग युद्ध में कब किया जाय उसके बारे में अर्थशास्त्र में इस प्रकार लिखा गयाा है – "यदि विजिगीषु को यह विश्वास हो कि मेरे पास श्रेणीबल इतना पोख्त है कि उसको राजधानी की रक्षा में भी लगाया जा सकता है और श9 के साथ युद्ध करने के समय भी उसको साथ लिया जा सकता है । अथवा सफल कम हैं मुकाबले की सेना भी प्रायः श्रेणीबल के साथ युद्ध करने लायक है अथवा शत्रु तूष्णी युद्ध (मंत्र) अथवा प्रकाश युद्ध (व्यायाम) से मुकाबला करना चाहता है अथवा दण्ड से डरा हुआ होने के कारण शत्रु अपनी सेना को किसी दूसरे राजा के अधीन करके युद्ध करने की सोच रहा है । ऐसी स्थिति में एवं अवसरों पर रेणी बल को साथ लेकर युद्ध करना चाहिए ।[2]

---

1. अर्थशास्त्र, 9/137–39/2/3
2. अर्थशास्त्र, 9/137–39/2/4

(ञ) **मित्र बल ::–**

यह मित्र राजा की सेना होती थी जो आवश्यकता पड़ने पर सहायतार्थ बुलायी जाती थी । मित्र बल के बारे में आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि – ''यदि विजिगीषु राजा यह समझे कि उसका मित्रबल इतना पोख्त है कि वह राजधानी की रक्षा करने में और शत्रु पर चढ़ाई करने में भी समर्थ है, अथवा सफर भी कमहै, तूष्णी युद्ध की अपेक्षा वहां प्रकाश युद्ध ही अधिक होगा, जिससे क्षय–व्यय की कम सम्भावना है अथवा शत्रु सेना या शत्रु के देश में सभी आटविक सेना या मित्र सेना को पहिले अपनी मित्र सेना से भिड़ाकर फिर अपनी सेना से लड़ाऊंगा, अथवा इस युद्धादि कार्य में मित्र का तथा अपना समान प्रयोजन है, इस कार्य की सिद्धि मित्र के हाथ में है अथवा अपने समीपस्थ अन्तरंग मित्र का अवश्य ही उपकार करना है अथवा अपने मित्र से द्रोह रखने वाली सेना (दूष्य सेना) को शत्रु के साथ भिड़ाकर मरवा डालूंगा । ऐसे अवसरों या ऐसी स्थितियों में मित्र सेना को युद्ध में साथ ले जाना चाहिए ।[1]

(ट) **अमित्र बल ::–**

इसका तात्पर्य शत्रु राजा की सेना से है । शत्रु राजा जब बलपूर्वक अधीन हो जाता है तो उसकी सेना पर भी अधिकार हो जाता है । ऐसी ही सेना को अमित्र बल कहा जाता है ।

अमित्रबल के बारे में आचार्य कौटिल्य का मत है कि यदि विजिगीषु राजा यह समझे कि उसकी शत्रु सेना अत्यधिक है जोकि उसके नगर में ही ठहरी हुई है और जिसको वह अपने दूसरे शत्रु के साथ भिड़ा सकता है अथवा उसको आटवी सेना के साथ भिड़ा सकता है । इस प्रकार दोनों शत्रु सेनाओं के लड़ जाने पर उसका अभीष्ट सिद्ध हो जायेगा । वैसे ही जैसे कि कुत्ते और सुअर की लड़ाई में किसी भी एक के मर जाने पर चांडाल का लाभ होता है अथवा अपने मित्र तथा आटविक कीसेना के कंटकों का इस रीति से

---

1. अर्थशास्त्र, 9/137–39/2/5

उन्मूलन हो सकेगा, अथवा बहुत बढ़ी हुई सेना को विजिगीषू कुपित हो जाने के भय से सदा ही अपने पास रखे । किन्तु उसको पास रखने में यदि अमात्य, पुरोहित आदि के कुपित हो जाने का भय हो तो उसे अपने पास न रखे, अथवा यदि विजिगीशु का श9 अपने किसी दूसरे शत्रु के साथ युद्ध कर रहा हो तो उस युद्ध के समाप्त हो जाने पर दूसरे युद्ध के अवसर पर शत्रु सेना को ही दूसरे शत्रु के मुकाबले भिड़ा दे । ऐसी स्थितियों एवं अवसरों पर शत्रु सेना को ही युद्ध में भेजना चाहिए ।[1]

(ठ) अटवीबल ::–

यह आटविक पुरूषों की सेना होती है । छोटी जातियों की स्वतंत्र सेना को इस श्रेणी में रखा गया है जिनका मूल उद्देश्य लूट–मार करना तथा उससे प्राप्त धन का उपयोग अपने दैनिक जीवन में करना था ।

आटविक सेना को युद्ध में भेजने के सम्बन्ध में आचार्य कौटिल्य ने निम्न बातें कहीं हैं::–

यदि विजिगीशु यह समझे कि गन्तव्य स्थान को बताने के लिए पथ–प्रदर्शक की आवश्यकता होगी, अथवा आटविक सेना शत्रु की युद्ध भूमि में लड़ने योग्य आयुधों की शिक्षा में निपुण है अथवा विजिगीषुं की बिना आज्ञा से ही सेना शत्रु सेना के साथ युद्ध में प्रवृत्त हो सकेगी – जैसे एक विल्वफल को दूसरे बिल्वफल के साथ टकरा कर फोड़ा जाता है वैसे ही शत्रु सेना से आटविक सेना ही मुठभेड़ में समर्थ है, अ अथवा शत्रु भी आटविक सेना को लेकर युद्ध भूमि में उतर रहा है । अथवा शत्रु के अल्प अनिष्ट के लिए आटविक सेना ही उपयुक्त होगी – ऐसी स्थितियों एवं अवसरों पर आटविक सेना को लेकर युद्ध में जाना चाहिए ।[2]

---

1. अर्थशास्त्र, 9/137–39/2/6
2. अर्थशास्त्र, 9/137–39/2/7–9

(ड) चर एवं दूत बल :::–

दूतबल :–

प्राचीन भारतीय आचार्यो ने राज्यों के बीच सम्बन्धों के महत्व को स्वीकार किया था, जिसके कारण उन्होने राजनयिक सम्बन्धं विकसित किया था । इस प्रकार उन्होने पृथक रहने की नीति को अस्वीकार किया था । जब कभी एक राज्य अपने पड़ोसी राज्य से शान्ति सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था या एक राज्य दूसेरे राज्य को सरकारी रूप से सूचना या पत्र भेजना चाहता था, तो या जबकभी अनेक राजाओं को बड़े यज्ञों– राजसूय, वाजपेय आदि अथवा सम्मेलनों में बुलाया जाता थं, तो इन तथा समान कार्यो के लिए दूतों का प्रयोग किया जाता था ।

प्राचीन भारत में राजनयिक सम्बन्धों की व्यवस्था अथवा दौत्य कर्म का अस्तित्व वैदिककाल में भी था । ऋग्वेद में दूत शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर पाया जाता ळै । ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर अग्नि को दूत मानकर यज्ञ में देवों को बुलाने के लिए कहा गया है । रामायण में और महाभारत में दौत्य कर्म के सम्बन्ध में अनेक उदाहरण मिलते हैं । रामायण में अंगद ने, श्री राम के दूत के रूप में रावण को श्रीराम का अन्तिम सन्देश दिया था कि या तो सीता जी को वापस कर दो अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओं । इसी प्रकार महाभारत में श्रीकृष्ण पाण्डवों के दूत बनकर दुर्योधन की सभा में गये थे और उन्होने पाण्डवों तथा कौरवों के बीच सन्धि कराने तथा युद्ध को टालने का प्रयास किया था । महाभारत में ही संजय ने विभिन्न अवसरों पर किसी न किसी प्रकारका दौत्य कर्म किया है ।सिकन्दर महान के आक्रमण के समय बहुत से भारतीय राजाओं ने यूनानी विजेता से सन्धि–वार्ता के लिए दूतों का प्रयोग किया ।

प्राचीन भारत के कुछ आचार्यो ने दूत को मंत्रिपरिषद का सदस्य माना है जबकि कुछ लोग इसे मान्यता नहीं देते । परन्तु सभभ ने दूत की उपयोगिता एवं आवश्यकता को स्वीकारा है । विभिन्न राज्यों तथा राजाओं के बीच पारस्परिक सम्बन्धं स्थापित करने का मुख्य साधन दूत ही माना जाता है । अतः इसका

पद एवं कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा गया है । कौटिल्य ने दूत को – "दुतमुखा वे राजानस्त्व चान्ये च" अर्थात राजा का मुख कहा है, उसी के माध्यम से राजा पारस्परिक वार्ता–विनिमय करते थे ।[1]

दूत के गुण तथा कार्य ::–

ऋग्वेद में कहा गया है कि जो एक राज्य से दूसरे राज्य में जाता है और वहां अपने राज्य का सन्देश पहुंचाता है तथा अपने राज्य का कार्य करता है, वह उत्तम रजदूत होता है ओर ऐसा राजदूत अग्नि है । दूत को तेजस्वी होना चाहिए । कार्य को अन्त तक पहुंचाने वाला होना चाहिए । वह अपने भाव से सहज एवं उत्तम ढंग से व्यक्त करने वाला हो । विदेश में जाकर वहां के कार्यकर्ताओं पर अपने ज्ञान से प्रभाव डालने वाला होना चाहिए । तरूण हो अथवा तरूण समान बलवान अथवा तेजस्वी हो, अग्नि ज्वाला के समान ओजपूर्ण भाषण करने वाला हो, सत्य धर्म का पालन करने वाला ो ओर अपने राजा को सुखी करेने वाला हो । तैत्तिरीय संहिता में भी इस मत की पुष्टि की गयी है और कहा गया है कि अग्नि देवताओं का दूत था, जैसा अग्नि यज्ञ में दूत कर्म करता है वैसा राजदूत राज्य शासन रूपी यज्ञ में दूत कर्म करे ।

महाभारत में भीष्मपितामह ने कहा है कि जो पुरूष कुलीन, वाग्मी, दक्ष, प्रियभाशी, यथोक्तवादी ओर स्मृतिवान हो, वही दूत पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए ।[2] शुक्रनीति के अनुसार दूत इंगित, आकार, चेष्टा का जानने वाला, स्मृतिवान, देशव काल का ज्ञाता, सन्धि और विग्रह की बातें करने में समर्थ, वाग्मी ओर निर्भीक होना चाहिए ।[3] कामन्दकीय नीतिसार में भी इन्हीं बातों का समर्थन किया गया है ।[4] कौटिल्य का कथन है कि दूत को शत्रु राजा द्वारा किकये गये सम्मान पर गर्व नहीं करना चाहिए, उसे किसी के कुवाक्य को पी लेना चाहिए, उसे स्त्री प्रंसग और मदपान को सर्वथा त्याग देना चाहिए राजा शत्रु राजओं के रहस्यों का पता लगाते हुए पूछे जाने पर भी उसे अपने भेदों का पता नहीं देना चाहिए

---

1. अर्थशात्र, 1/16/16
2. उद्योगपर्व, 37/27
3. शुक्रनीति, 2/173
4. कामन्दकीयनीतिसार, 13/18

दूत का कार्य अति जिम्मेदारी वाला होता था । दूत के द्वारा ही राजा का मित्र एवं शत्रु का निर्माण किया जाता था । कौटिल्य ने दूत के कार्यो का विस्तृत विवेचन अपने अर्थशात्र में किया है । शत्रु देश में अपने स्वामी का सन्देश लेकर जाना, उसका उत्तर लेकर आना समय पड़ने पर अपने पराक्रम को दिखाना, शत्रु पक्ष के अच्छे पुरूषों को फोड़ लेना, शत्रु के मित्रों को उससे विमुख कर देना, शत्रु देश में रहकर गुप्तचरों के कार्यो का निरीक्षण करना आदि । कौटिल्य ही एक ऐसे प्राचीन आचार्य रहे हैं जिन्होने दूतों के कार्यो की प्रकृति, उनके गुणों तथा अधिकारों के आधार पर तीन श्रेणियां रखीं ::–

1. **निसृष्टार्थ :–**

जिसमें अमात्य के सारे गुण विद्यमान हों ओर उसकी स्थिति अमात्य जैसी हो ।

2. **परिमितार्थ :–**

जिसका स्थान अमात्यों से एक चौथाई कम हो ओर जो वही निर्णय कर सके, जिसका उसे निर्देश दिया गया हो ।

3. **शासनहर :–**

जिसमें अमात्य के आधे गुण हों ओर जो केवल राजा का ले जाने और उसका उत्तर लाने का काम करता हो ।[1]

कामन्दक ने आचार्य कोटिल्य की बात को माना है लेकिन उन्होने यह वर्गीकरण उनमें निहित सत्ता की मात्रा पर आधारित किया है ।[2]

राजदूतों के कार्यो का संक्षिप्तीकरण करने पर यह कहा जा सकता है कि वह शत्रु देश के वन रक्षक, सीमा रक्षक, नगरवासियों तथा जनपदवासियों से ममित्रता रखे । वह दोनों पखों की सेनाओं के ठहरने योग्य युद्ध भूमि और अवसर आने पर अपनी सेना के भाग सकने योग्य उपयुक्त स्थानों तथा रास्तों का

---

1. अर्थशास्त्र, 1/16
2. कामन्दकीयनीतिसार, 13/18

निरीक्षण करे । इसके अतिरिक्त शत्रुपक्षी राजा के दुर्ग, उसके राज्य की सीमाएं आय, उपज, आजीविका के साधन राष्ट्र रक्षा के तरीके, वहां के गुप्तभेदों और वहां की बुराइयों का पता लगाना भी दूत का कर्तव्य है

चर :–

राष्ट्रीय हितों का ख्याल रखकर उनके संरक्षण एवं सम्बर्द्धन के लिए गुप्तचरों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता था । अष्टांग बल में चर या चर का बहुत अधिक महत्व था । चर की कार्यकुशलता पर राज्य की उननति ही नहीं वरन अस्तित्व भी अवलम्बित था । चर अर्थात गुप्तचर का कार्य परराष्ट्र के सैन्य बल और युद्ध सज्जा का ठीक–ठीक पता लगाना भी था । जब श्री राम लंका पर चढ़ाई करने की तैयारी कर रहे थे, जब उनकी छावनीमें रावण के बहुत से चर आये थे जिससें शुकनामक चर ने सुग्रीव को फोड़ लेने का प्रयत्न भी किया । श्रीराम के समुद्र पार पहुंचने पर भी बहुत से राक्षस वानरों के भेष में छावनी में घूमा करते थे । ऐतिहासिक युग में मगधराज अजातशत्रु का ब्राम्हण मंत्री वर्शकार बज्जियों के यहां चर बन कर ही गया था ।

बाजपेयी के अनुसार चर बल आधुनिक कल्पना नहीं है । ऋग्वेद में वरूण के चरों का वर्णन है । वरूण की सर्वदर्शिता उनकी चर व्यवस्था का ही प्रमाण है । वे आकाश में पक्षियों का उड़ान, समुद्र में जलयानों का मार्ग और दूर तक चलने वाली हवा की गति जानते हैं, जो सब गुप्त बातें हो रही हैं या होंगी, उनका भी पता उन्हें है । वरूण सम्राट है – देवताओं एवं मनुष्यों के राजा है । इसलिए उनकी सहायतार्थ चरों (गुप्तचरों) का बड़ा भारी दल है । वरूण के ही पास चर नहीं थे, मित्र, अग्नि, सोम आदि देवताओं तथा इन्द्र से पराजित राक्षसों के पास भी चर थे । रामायण ओर महाभारत में ही नहीं, नाटकों पाली ग्रन्थों मुनुस्मृति तथा अर्थशास्त्र आदि में चरों का वर्णन मिलता है । चर दो प्रकार के होते थे – एक का सम्बन्ध अपने राज्य से होता थं ओर दूसरे का परराज्यों से । पर राज्यों, विशेशकर वर्तमान व भावी शत्रु राज्य की शक्ति का पता रखना बहुत आवश्यक समझा जाता था ।[1]

---

1. अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : हिन्दू राज्यशास्त्र, पृ0– 302–3

वाल्मीकी रामायण में गुप्तचर–व्यवस्था क्रियाशील रखने की आवश्यकता रावण को समझाती हुई शूर्पणखा कहती है कि गुप्तचर राजा दीर्घ दृष्टि प्रदान करते हैं । रावण ने सीता–हरण के पश्चात आठ जासूसों को दण्डकारण्य में लगा दिया, जिसस कि वे शत्रु राम की गतिविधियों की सूचना निरन्तर देते रहें रावण भेद–नीति में प्रकाण्ड था । राम तथा सुग्रीव में मतभेद उत्पन्न कराने के लिए ही उसने अपने गुप्तचर कार्यपटु शुक को भेजा । मनुस्मृति में यह उल्लेख किया गया है कि राजा अपनी और शत्रु की वास्तविकता का पता चरों तथा उनके कार्यो से लगाता रहे । कौटिल्य के अनुसार विजिगीशु राजा के लिए आवश्यक है कि वह शत्रु, मित्र मध्यम तथा उदासीन राजाओं और उनके मंत्री, पुरोहित, सेनापति आदि अठारह प्रकार के अधीनस्थ कर्मचारियों के निकट सभी स्थानों पर गुप्तचरों की नियुक्ति करे । राजा को शत्रु की प्रत्येक ग्रतिविधि जानने के लिए किसी प्रलोभन या बहकावे में न फसने वाले अपने विश्वस्त पुरूषों को ही नियुक्त करना चाहिए और उन्हें शत्रु पक्ष को अपने वश में करने के उपाय भी बताने चाहिए । शत्रु के बीच गुप्तचरों को छोड़कर क्या काम किया जाय, इस विषय में कौटिल्य का मत है कि वणिज संस्था के गुप्तचरों को दुर्गो के अन्दर कृषकों व उदास्थितों को राष्ट्र में सिद्ध तापसों को दुर्गान्त में, ब्रजवासियों को राष्ट्रान्त में, ब्रम्हचारियों, श्रमणों और आटविकों को जंगलों में शत्रुओं की गतिविधि जानने के लिए रख देना चाहिए । साथ ही शत्रु के विरूद्ध चुपचाप ही युद्ध लड़ने के लिए तीक्षण शस्त्र और रसद रखकर चारों द्वारा शत्रु देश में अशान्ति उत्पन्न करना चाहिए ।[1] गुप्तचरों का कार्य अपने तथा शत्रु राज्य में छिपे रहकर विभिन्न प्रकार की सूचना एकत्रित करना है । गुप्तचरों का प्रयोग शत्रु राजाओं के विरूद्ध भी किया जा सकता है । यदि शत्रु और उसका मित्र आपस में मिले रहें तो उन्हें प्रकट रूप में भूमि तथा राज्य देने का प्रलोभन दिया जाय । उसके बाद विजिगीषु और मित्र के वेतन– भोगी मध्यस्थ दूतों द्वारा यह सन्देश भेजा जाय कि यह राजा शत्रु से मिलकर तुम्हारे राज्य को लेना चाहता है । इस प्रकार दोनों में फूट और सन्देह पैदा कर

---

1. अर्थशास्त्र, 1/12

विजिगीषु राजा आक्रमणकारी शत्रु को मार डाले । गुप्तचरों को शिकारी शिल्पी, पाखण्डी आदि के भेष में शत्रु को भेद पाने के लिए तथा युद्ध होने पर अपनी सहायता के हेतु शत्रु राजा के देश में भेजा जा सकता है ।[1]

गुप्तचरों की श्रेणी :–

कौटिल्य का विचार है कि धर्मोपधा आदि उपायों के द्वारा अमात्यवर्ग की परीक्षा कर लेने के अनन्तर राजा गुप्तचरों की नियुक्ति करें ।[2] इस आधार पर उन्होंने गुप्तचरों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है ।

(1) संस्थाचर – स्थायी गुप्तचर

(2) संचारचर – भ्रमणशील गुप्तचर

(1) संस्थाचर –

कौटिल्य ने संस्थाचर को पांच प्रकार का बताया है ।[3]

(क) कापटिक –

दूसरों के रहस्यों को जानने वाला बड़ा पगल्म (दबंग) और विद्यार्थी की भेशभूषा में रहने वाला गुप्तचरकापटिक काहलाता है । इस गुप्तचर को धन, मान और सत्कार से सन्तुष्ट कर मंत्री उससे कहे "जिस किसी की भी तुम हानि होते देखो, राजा को और मुझे प्रमाण मानकर तत्काल ही तुम मुझे सूचित कर दो ।

(ख) उदास्थित –

बुद्धिमान, सदाचारी, सन्यासी के भेश में रहने वाले गुप्तचरका नाम उदास्थित है । वह

---

1. टी0एन0 रामास्वामी : एसेंसियल आफ इण्डियन स्टेट क्राफ्ट, पृ0– 13
2. अर्थशास्त्र, 1/6/10/5
3. वही, 1/6/10

अपने साथ बहुत से विद्यार्थी, और बहुत सा धन लेकर, जहां जाकर विद्यार्थियों द्वारा कार्य करवाये, जहां ृषि पशुपालन एवं व्यापार के लिए भूमि नियुक्त है उस कार्य को करने से जो लाभ हो उससे वह सब सन्यासियों के भोजन, वस्त्र एवं निवास का प्रबन्ध करे । जो भी इस प्रकार की आजीविका की इच्छा करे उन्हें सब तरह से अपने वश में कर लें और उनसे कहे, तुम्हें इसी भेष में राजा का कार्य करना है, जब तुम्हारे वेतन तथा भत्ते का समय आवे वहां उपस्थित हो जाना । दूसरे सन्यासी भी अपने–अपने सम्प्रदाय के सन्यासियों को इसी प्रकार समझा–बुझा दें ।

(ग) गृहपतिक –

बुद्धिमान, पवित्र हृदय और गरीब किसान के भेष में रहने वाला गुप्तचर गृहपतिक लाता है । वह कृषि कार्य के लिए नियुक्त भूमि में जाकर उदास्थित गुप्तचर के ही समान कार्य करे ।

(घ) वैदेहक –

बुद्धिमान, पवित्र हृदय गरीब व्यापारी के भेश में रहने वाला गुप्तचर वैदेहिक है । वह व्यापार कार्य के लिए नियुक्त भूमि में जाकर उदास्थित गुप्तचर की भांति कार्य करता रहे ।

(च) तापस –

जीविका के लिए सिर मुडाए या जटा धारण किये हुए राजा का कार्य करने वाला गुप्तचर ी तापस है । वह कहीं नगर के समीप ही बहुत से मुंड या जटिल विद्यार्थियों को लेकर रहे और महीने दो महीने तक लोगों के सामने हरा शाक या मुट्ठी भर अनाज खाता रहे । वैसे छिपेतौर पर अपनी इच्छानुसार सुस्वाद भोजन करता रहे । वैदेहक तथा उसके अनुचर तापस गुप्तचर की पूजा–अर्चना करें। शिष्य मंडली घूम–घूम कर यह प्रचार करे कि यह तपस्वी पूर्ण सिद्ध, भविष्रूवक्ता ओर लौकिक शक्तियों से सम्पन्न हैं। अपना भविष्यफल जानने की इच्छा से आये हुए लोगों की पारिवारिक पहचान उनके शारीरिक चिन्हों के माध्यम से तथा अपने शिष्यों के संकेतों के अनुसार बतावे । ऐसा भी बतावें कि इन–इन कार्यो में थोड़ा लाभ का योग है । इसके अतिरिक्त वह आग लगने, चोरी हो जाने, दुष्ट लोगों के वध स्वरूप इनाम देने, देश–

विदेश के फल, यह कार्य आज होगा कि कल या इस कार्य को राजा करेगा आदि बातें भी उसको बतावें ।

इस प्रकार इन पांचों प्रकार के गुप्तचरों की नियुक्ति एवं कार्यो का यही विधान है ।

(2) संचार चर :–

कोटिल्य ने चार अन्य और गुप्तचरों की व्याख्या की है, जो घूम–घूम कर कार्य करते हैं ।[1]

(क) सत्री :–

जो राजा के सम्बन्धी न हो, किन्तु जिनका पालन–पोषण करना राजा के लिए आवश्यक हो जो सामुद्रिक विद्या, ज्योतिष, व्याकरण आदि अंगों का शुभाशुभ फल बताने वाली विद्या, वशीकरण, इन्द्रजाल धर्मशास्त्र, शकुनशस्त्र, पक्षिशास्त्र, कामशास्त्र तथा तत्सम्बन्धी नाचने–गाने की कला में निपुण हो वे सभी सत्री कहलाते हैं ।

(ख) तीक्ष्ण :–

अपने देश में रहने वाले ऐसे व्यक्ति जो द्रव्य के लिए अपने प्राणों की भी परवाह न करके हाथी, बाघ ओर सांप से भी भिड़ जाते हैं, उन्हें तीष्ण कहते हैं ।

(ग) रसद :–

अपने भाई–बन्धुओं से भी स्नेह न रखने वाले, क्रूर प्रकृति और आलसी स्वभाव वाले व्यक्ति रसद (जहर देने वाला) कहलाते हैं ।

(घ) परिव्राजिका अथवा भिक्षुकी :–

आजीविका की इच्छुक, दरिद्र, प्रौढ़, विधवा, दबंग, ब्राम्हणी, रनिवास में सम्मानित, प्रधान अमात्यों के घर में प्रवेश पाने वाली परिव्राजिका (सन्यासिनी) के भेश में खूफिया का काम करने वाली) नाम की गुप्तचरी कहलाती है । इसी प्रकार मंडा ओर वृषली आदि नारी गुप्तचरियों को भी जान लेना चाहिए । ये सभी संचार नामक गुप्तचर हैं ।

---

1. अर्थशास्त्र, 1/7/11 (पूर्ण)

(ढ) देशिक बल :–

देशिक बल के सम्बन्ध में विद्वान एक मत नहीं है । कुछ विद्वान इसे उपदेशक एवं कुछ गुरू के नाम से विभूषित करते हैं । अम्बिका प्रसाद बाजपेयी ने लिखा है कि महाभारत के टीकाकार नीलकंठ ने देशिक का अर्थ उपदेशक अथवा गुरू माना है, जबकि प्रो0 हेमचन्द्र चौधरी ने देशिक का अर्थ सैन्य विद्या का शिक्षक से लगाया है ।[1] अगर देशिक बल के कार्यों की तुलना पुरोहित से की जाय तो लगभग समानता मिलती है । क्योंकि पुरोहित भी राजकुमार को सैनिक शिक्षा देते हैं । राजा के साथ युद्ध क्षेत्र में जाता है । युद्धक्षेत्र में राजा एवं सैनिकों का उत्साहवर्द्धन करता है । इस तरह तो पुरोहित को देशिक बल माना जा सकता है । वैदिककाल में यह बल मुख्य रूप से प्रचलित थी, बाद में इसका रूप चारण एवं भाट ने ले लिया । महाभारत में यह उल्लिखित है कि द्रोणाचार्य ने कुछ एवं पाण्डु राजकुमारों को सैनिक शिक्षा दी थी जिसके कारण वे उनके गुरू थे । बाद में दुर्योधन के साथ उन्होंने युद्ध क्षेत्र में व्यूह रचना का निर्माण कर उसके मन में उत्साह जागृत किये थे । कौटिल्य ने पुरोहित द्वारा सैनिकों को उत्साहित करने की बात कही है ।[2] कौटिल्य ने औत्साहिक बल को देशिक बल के रूप में स्वीकार किया है । वे सैनिकों को बराबर उपदेश दिया करते थे । इन उपदेशात्मक विचरणों से सैनिकों में उत्साह भरते थे ।[3]

शब्दकोष ने देशिक को मार्गदर्शक कहा है । आधुनिक युग में जो कार्य सिगनलकोर करती है, वही काम मगध साम्राज्य के समय आटवीबल करता था । आजकल स्काउट भी वही कार्य कर रहा है यानि सबका कार्य शत्रु की गतिविधि भूमि की प्रकृति, सेना से आगे चलकर मार्ग की सभी बातों का ज्ञान प्राप्त करना, आदि के सम्बन्ध में सूचनाएं देना था । सम्भवतः अब यह कहा जा सकता है कि देशिक बल यही कार्य करता था । कौटिल्य ने आटवी बल का कार्य मार्ग निदेशन बताया है जो सेना के आगे चलता था [4]

---

1. अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : हिन्दू राजशास्त्र, पृ0– 262
2. अर्थशास्त्र, 10/3/32–34
3. वही, 10/3/49
4. अर्थशास्त्र, 9/2/25

आगे बढ़ रहे रास्तें में रूकावट साफ करता था राजा की बिना आज्ञा के युद्ध कर लेता था, शत्रु को आगे बढ़ने में रूकावट पैदा करता था । इन सब कार्यो के लिए समझा जा सकता है कि जरूर ही सीमान्त प्रदेश के प्रशिक्षण प्रापत नागरिक होते थे । जो पूर्ण रूपेण राष्ट्र प्रेमी एवंविश्वासपात्र थे ।

इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि देशिक बल को मार्गदर्शक बल कहा जा सकता है । जोसेना से आगे चलकर शत्रु की गतिविधियों का पता लगाता था । शत्रु के सामने रूकावट पैदा करता था, अपनी सेना को सरल ढंग से आगे बढ़ाता था ओर शत्रुदल का सामना करता था । इस प्रकार इसे अ अष्टांग बल में स्थान जरूर दिया गया रहा होगा ।

(ण) रसद तथा यातायात विभाग या विश्टि बल :–

जिस प्रकार मानव शरीर के लिए ऊर्जा (जो भोजन से प्रापत होता है) एवं संचार के लिए रक्त धमनियां आवश्यक हैं उसी प्रकार सांग्रामिक सेनांगों के लिए प्रशासन क्षमता एवं व्यवस्था आवश्यक है । क्योंकि इसी पर सेना की शक्ति एवं क्षमता निर्भर करता है । प्राचीन आचार्यो ने इस तथय को स्वीकार किया है । इसीलिए उन्होंने विष्टि बल को अष्टांग बल में स्थान दिया है । उद्योगपर्व में यह वर्णित है कि पाण्डव सेना के साथ आवागमन के लिए प्रयोग में आने वाले वाहनों, कोश, शस्त्र भण्डार, यंत्र चिकित्सक व चिकित्सा सामग्री थी ।[1] उनके साथ जल, भोजन, जानवरों की खाद्य सामाग्री, शहद, मक्खन आदि अनेक वस्तुओं का भण्डार था ।[2] इसी प्रकार महाभारत मे दुर्योधन की सेना के साथ अनेक प्रकार की सैनिक सामग्री एवं भण्डारण का उल्लेख मिलता है मेजर आर0सी0कुलश्रेष्ठ ने लिखा है कि मैगस्थैनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना के छः प्रमुख विभाग बताये हैं । इसके अनुसार प्रत्येक का एक प्रशासकीय कार्यालय होता था जिसमें पांच सदस्य होते थे । उन कार्यालयों में एक विश्टि भाग का कार्यालय भी था । इसके अधीन

---

1. महाभारत–उद्योगपर्व, 151/58–59
2. वही, 152/12–14

सैनिक साम्रग्री, भोजन आदि को ढोने वाली बैलगाड़ियां रहती थीं । इसके अतिरिक्त अनेक कर्मचारी, घोसे बजाने वाले, चिकित्सक, भविष्य बताने वाले, यन्त्रों की मरम्मत करने वाले, सैनिक अश्वों की देखभाल करने वाले व्यक्ति भी इस विष्टि भाग में रहते थे ।[1] कौटिल्य के अनुसार अस्त्र–शस्त्र न रखकर फौज में कार्य करने वाले कर्मचारियों को विष्टि कहा जाता है । सैनिक शिविर बनाना सैनिक मार्ग, नदी के पुल, बांध, कुएं घाट आदि तैयार कवच आदि युद्धोपयोगी सामान तथा हाथी, घोड़ों के लिए घास ढ़ोना, उनकी रक्षा का प्रबन्ध करना, युद्ध भूमि में कवच, हथियार तथा घायल आदि सैनिकों को दूसरी जगह ले जाना । ये सभी कार्य विशिट नामक कर्मचारियों के हैं ।[2] कौटिल्य के अनुसार इस दल में स्त्रियां भी होती थी ।[3]

प्राचीन आचार्यो ने विष्टि बल को योद्धा वर्ग में नहीं रखा है । इसको यौद्धिक वर्ग का सहायक मानते हैं । वे युद्ध क्षेत्र में निः शस्त्र होते थे । धार्मिक युद्ध नियम के अनुसार इन पर कोई वार नहीं कर सकता था । महाभारत में अनेकों स्थलों पर यौद्धिक संक्रिया में लीन योद्धाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले कर्मियों का वर्णन किया गया है । प्राचीन भारत में चिकित्सा विज्ञान का स्तर ऊंचा था । ऋग्वेद काल में रातोंरात घायल योद्धा को लोहे की टांग लगा दी जाती थी, जिसके सम्बंध में स्त्री सेना शीर्षक का अध्ययन उदाहरण प्रस्तुत करता है । महाभारत में युद्ध में भी ऐसा प्रतीत होता है कि जो योद्धा एक दिन घायल हो जाता था वही योद्धा दूसरे दिन फिर युद्ध करता था । क्योंकि रात को कुछ दवाओं के सेवन तथा वनस्पतियों के लेप आदि से वे प्रातः युद्ध करने योग्य हो जाते थे ।[4]

इस प्रकार यह देखा जाता है कि प्राचीनकार का विशिट बल आज के प्रशासनिक विभाग (जिसमें आज ए0एस0सी0, ए0एम0सी0, ए0ओ0सी0, एन0सी0आई0, पायोनियर कोर आदि सभी मिलकर

---

1. मेजर आर0सी0 कुलश्रेश्ठ : भारतीय सैन्य विज्ञान, पृ0– 259
2. अर्थशास्9, 10/153–54/4/15
3. वही, 10/3/62
4. श्रीपाद दामोदरसातवलेकर : वेद परिचय, भाग''2 पृ0– 163

प्रशासनिक विभाग का निर्माण किये हैं) जैसा कार्य करता है । कोटिल्य ने इस विभाग को क्यों महत्व दिया ? यह उपरोक्त विवेचन के बाद स्पष्ट हो जाता है । इस तरह विष्टि बल प्राचीन भारतीय सेना का मुख्य सहायक अंग था ।

(त) नौ सेना :–

प्राचीन भारत में नौ सेना का स्वतंत्र रूप नहीं मिलता । इसका सेनांग की सहायता के लिए अधिकतर प्रयोग किया जाता था । लेकिन रघुवंश में कालिदास ने बंगाल के राजा के पास स्वतंत्र नौ सेना थी, ऐसा माना है ।[1] रामायण तथा महाभारत में नौ सेना द्वारा लड़े गये युद्ध का वर्णन नहीं है । हां नौकाओं का प्रयोग किया गया है, ऐसा उदाहरणं मिलता है । मनु ने भी राजा को यह आदेश दिया है कि वह नदी पार करने के लिए नावों की उचित व्यवस्था करें ।[2] अधिकांशतः प्राचीनकाल में दूर–दूर तक युद्ध करने के लिए नदी पार करना, चतुरंग बल को पार करना, सामग्री उस पार भेजना, गुप्तचरों को उस पार उतारना आदि कार्य नाविक के ऊपर रहता था । आचार्य कोटिल्य ने इन कार्यो को अपने अर्थशास्त्र में इंगित किया है ।[3] सत्यकेतु विद्यालंकार का मत है कि सिन्धु घाटी सभ्यता के समय भी भारतीय नावों तथा हाजों का प्रयोग करते थे ।[4] दिक्षितार ने लिखा है कि वैदिककाल में भारतीय भूमध्यसागरीय देशों में व्यापार करते थे, वहां तक पहुंचने का एकमात्र साधन नाव या जलमार्ग था, जो जलयान द्वारा ही सम्भव हो सकता थ । अतः जलयानों की रक्षा तथा जलदस्युओं के हनन के लिए इन व्यापारियों को प्रशिक्षित धुनुष धारी भी रखना पड़ता था ।[5] चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है कि भास्करवर्मन अपनी 20000 गज सेनाके साथ हर्ष से मिलने गया था तो उसके 30000 जलयानों ने भी गंगा नदी द्वारा उसी ओर प्रस्थान किया था ।[6]

---

1. रघुवंश, 4/36
2. मनुस्मृति, 7/192
3. अर्थशास्त्र, 2/82/21
4. सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का प्राचीन इतिहास, पृ0–85
5. दिक्षितार : वान इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 207
6. बी0के0मजूमदार : मिलिट्री सिस्टम इन एसियेन्ट इण्डिया पृ0– 131

डा0 कुमार स्वामी ने लिखा है कि प्राचीनकाल में भारतीय नाविक शक्ति विश्वविख्यात थी । भारतीयों ने नाविक बल पर ही दूर–दूर देशों में उपनिवेश एवं व्यापार स्थापित किये थे ।[1] बाजपेयी ने लिखा है कि मगध में चन्द्रगुप्त का शासन स्थापित होने से पहले भारती की नौ सेना अफ्रीका तथा चीन तक जाती थी, क्योंकि इस क्षेत्र में हिन्दू राजा राज्य करते थे । भारत के व्यापारिक पोत रोम, अफ्रीका, तथा चीन तक व्यापार करते थे और यही कारण है कि अफ्रीका का जंजीवार टापू हिन्दू बाजार के नाम से प्रसिद्ध है ।[2] इतिहासकारों का मत है कि जब सिकन्दर वापस स्वदेश लौटने लगा तब पंजाबी भारतीयों ने लगभग 1000 नावों के बेड़े का निर्माण कर उसे प्रदत्त किया था । मौर्य साम्राज्य में नौ सेना की स्थापना की गयी थी, इसके अध्यक्ष को नावाध्यक्ष कहा जाता है तथा इनके कार्य का विस्तार में वर्णन किया गया है ।[3] नावों पर कार्य करने वाले अधिकारियों को इन्होने पांच भागों में बांटा है ।

(1) नाव का कप्तान (शासक)
(2) नावचालक (नियामक)
(3) लंगड़ डालने वाला (दात्रग्राहक)
(4) रस्सी या पतवार पकड़ने वाला (रश्मिग्राहक)
(5) नौका में भरे पानी को उलीचने वाला (उत्सेचक)

ये पांचों कर्मचारियों के रहने पर बराबर नाव चलाने का आदेश था । बरसाती नदी में नावों का दूसरा स्वरूप प्रयोग किया जाता था ।[4]

इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल में सेनांगों की सहायता के लिए नौसेना का प्रयोग कया जाता थां। डा0 पी0सी0 चक्रवर्ती ने लिखा है कि प्राचीनकाल में नौ सेना का प्रयोग यौद्धिक क्रया सम्पादन के लिए, सामान ढोने के लिए किया जाता थं और नौ सेना का युद्ध तभी लड़ा जाता था जब कोई विशम परिस्थिति (जब शत्रु संचार व्यवस्था करे काटने के लिए नावों को डुबाने का प्रयास करता हो) आ खड़ी होती थी ।[5]

---

1. कुमार स्वामी : आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट इन इण्डिया, पृ0– 166
2. अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : हिन्दू राज्य शास्9 पृ0– 264–69
3. अर्थशास्9, 2/28
4. अर्थशात्र 2/44/28/8
5. पी0सी0चक्रवर्ती : आर्ट आफ वार इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 66

अध्याय (5)

प्राचीन भारतीय अस्त्र – शस्त्र

अस्त्र–शस्त्र

मानव अपने जन्म से ही सुरक्षा के प्रति जागरूक हो जाता है । यह लक्षण उसके अन्दर आत्मरक्षा तथा प्रहार के रूप में पायी जाती है । अपने विकास के प्रारम्भिक अवस्था में मानव अपने विभिन्न अंगों (बांह, आंख, पलक, कान, नाक, त्वचा एवं दात, नाखून, सिर एवं पैर) का ही आक्रमणात्मक एवं सुरक्षात्मक अस्त्र–शस्त्र के रूप में प्रयोग करता है । लेकिन विकास की निरन्तर सीढ़िया चढ़ते हुए वह वास्तविक अस्त्र–शस्त्र का उपयोग अपने दैनिक जीवन में करने लगता है । आयुद्ध के बारे में ऐतिहासिक व्याख्या करते हुए जी0एन0 पन्त ने लिखा है कि मानव द्वारा निर्मत इतिहास यूद्धों से रक्तरंजित है । युद्धों के अन्तिम निश्कर्श के लिए मानव ने संघर्ष एवं शस्त्रास्त्र का प्रयोग किया है । शस्त्रास्त्र का अनेकानेक आविष्कार मानव ने विनाश हेतु किया,लेकिन उसकी मूल प्रवृत्ति आत्मरक्षा तथा अस्तित्व की सुरक्षा ही रहा है ।1
श्री पन्त ने आयुद्धों की कहानी को मानवता का इतिहास माना है । युद्ध इतिहास का एक अंग माना जाता है जिसने विश्व के स्वरूप को बराबर परिवर्तित किया है । और युद्ध की प्रारम्भिक अवस्था आयुद्ध है । अतः आयुद्ध सीधा मानव इतिहास का आधार है । शस्त्र वीर पुरूर्ष का गहना था, यह मानव शक्ति में चार–चाद लगाता है । धीरे–धीरे इसकी महत्ता बढ़ती ही जा रही है । मानव का प्रारम्भिक अस्त्र–शस्त्र दांत, नाखून, मुंक्का

---

1. जी0एन0 पन्त : स्टडीज इन इण्डिया वीपन्स एण्ड वारफेयर, पृ0– 1

इत्यादि और कालान्तर में पत्थर, लकड़ी, हड्डी तथा धातु के शस्त्रास्त्रों का निर्माण हुआ ।[1]

संघर्ष निरन्तर सभ्यता के कायाकल्प में योगदान देता रहा है । सिन्धुघाटी सभ्यताकाल में शस्त्रास्त्र कांसे एवं तांबा धातु का भी बनने लगा । डा0 रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है कि युद्ध और आखेट में व्यवहृत होने वाले अस्त्र-शस्त्र अब पत्थर के बजाय तांबे और कांसें के बनने लगे थे । गदा फरसे, खंजर, बर्छे धनुष-वाण और पत्थर फेंकने वाले नाल यायंत्र का व्यवहार होता था ।[2] श्रीओमप्रकाश ने लिखा है कि सिन्धुघाटी सभ्यताकाल में भारत में तांबे की कुल्हाड़ियां दुधारे वाणों तथा गुलेल से फेके जाने वाले सख्त गोल पत्थरों तथा हंसिया आदि का आयुधों के रूप में प्रयोग किया जाता थे ।[3] वैदिककाल में शस्त्रास्त्रों के बारे में आर0सी0 मजूमदार ने लिखा है कि उस काल में मान्य वेदों के अतिरिक्त एक उपवेद भी था, जो धनुर्वेद के नाम से जाना जाता है । इसमें युद्ध-विज्ञान एवं शस्त्रास्त्रों का विशेष उल्लेख किया गया है ।[4] इतिहास के निर्माण में शस्9ास्त्रों का विशेश योगदान रहा है । मेजर आर0सी0कलश्रेष्ठ के कथानुसार यही कारण है कि सदैव से शस्त्रास्त्रों के स्वरूप, शक्ति और प्रयोगविधि का विकास होता रहा है और आज भी विश्व के महान वैज्ञानिक अति उत्तम शस्त्रास्त्रों की खोज में लीन है । शस्त्रास्त्रों के स्वरूप, प्रयोग पर ही सैनिक संगठन निर्भर करता है । उनका प्रभाव युद्धकला पर भी पड़ता है । यही नहीं शस्त्रास्त्रों के प्रभाव से मानव सभ्यता भी अछूत नहीं बचती । शस्त्रास्त्रों का महत्व विश्व के सभी राष्ट्रीय संघर्षों में सदैव से रहा है । प्राचीन भारत भी इस प्रभाव से न बच सका । उस काल में अनेक ग्रन्थों से अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों का ज्ञान प्राप्त होता है ।[5]

---

1. जी0एन0पन्तः स्टडीज इन इण्डिया वीपन्स एण्ड वारफेयर पृ0- 1
2. रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास पृ0- 16
3. ओमप्रकाश : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0- 52
4. आर0सी0मजूमदार : हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इण्डियन पीपुल, वाल्यूम-1, अधयाय 9
4. मेजर आर0सी0कुलश्रेश्ठ : भारतीय सैन्य विज्ञान, पृ0- 302

प्रश्न यह उठता है कि अस्त्र–शस्त्र आखिर है क्या चीज ? इस पर विचार करते हुए प्राचीन ाचार्यों ने कई मत दिए हैं । बहुतों ने भौतिक वस्तु माना है जो शारीरिक चोट पहुंचाने के लिए प्रयोग की जाती है । बहुत इसे सामान्य उपकरण मानते हैं, जो युद्ध में प्रयोग किये जायें, ऐसे उपकरण अस्त्र–शस्त्र कहलाते हैं । एक अमेरिकी विशेषज्ञ ने आक्रमण एवं सुरक्षा के लिए प्रयोग किये जाने वाले उपकरण को शस्त्र माना है । हिन्दी विशेषज्ञ इसको (अस्त्र–शस्त्र) आयुध का पर्यावाची मानते हैं । कुछ विशेषज्ञों ने अपने अनुसार अस्त्र"शस्त्र की परिभाष इस प्रकार दी है । बृहद हिन्दी कोष के अनुसार अस्त्र–फेंककर चलाये जाने वाले हथियार को कहते हैं । जैसे वाण आदि । जबकि शस्त्र का अर्थ हरवा–हथियार से है ।[1] नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर में अस्त्र को इस प्रकार परिभाशित किया गया है :–

(1) वह हथियार है जो फेंक कर चलाया जाय, जैसे वाण, शक्ति गोली, गोला इत्यादि ।

(2) वह हथियार जिससे शत्रु द्वारा चलाये गये हथियार से रोक हो जैसे ढाल इत्यादि ।

(3) वह हथियार जो मंत्र द्वारा चलाया जाय ।[2]

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा खण्डों में प्रकाशित हिन्दी शब्दसागर में अस्त्र की व्याख्या इस प्रकार की गयी है – "वह हथियार जिससे कोई चीज फेंकी जाय, अस्त्र कहलाता है ।[3] इस तरह यह कहा जा सकता है कि अस्त्र–शस्त्र आत्मरक्षा एवं प्रहार के निमित्त प्रयोग किये जाने वाले हथियार को कहा जा सकता है । आचार्य शुक्र ने लिखा है कि जो हथियार मंत्र–यंत्र तथा अग्नि तीनों में से किसी से चलाये जाते हैं, वे अस्त्र हैं, परन्तु जो हाथ में रखे जाते हैं वे शस्त्र हैं । नालिकाओं तथा तोपों को आचार्य शुक्र ने अस्त्र की श्रेणी में रखा है जैसा कि आज भी मान्य है ।[4]

---

1. ज्ञानमण्डल : वृहद हिन्दी कोश, पृ0– 123
2. ना0प्र0स0 : संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ0– 74
3. ना0प्र0स0 : हिन्दी शब्द सागर, भाग–1, पृ0– 384
4. शुक्रनीति : 4/1024/44

वर्गीकरण ::::–

शस्त्रों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न मत दिए हैं । आचार्य शुक्र ने दो प्रकार के शस्त्रों का उल्लेख किया है ।[1] धनुर्वेद भी दो प्रकार के शस्त्रों का उल्लेख करता है ।[2] नीति प्रकाशिका ने शस्त्रास्त्रों के चार भेद बताये हैं ।[3] अग्निपुराण, धनुर्वेद तथ नीतिप्रकाशिका से भिन्न पांच प्रकार का भेद बताता है । [4] भोज के युक्ति कल्पतरू में शस्त्रास्त्रों को दो भागों में बांटागया है ।[5] प्रथम मगध साम्राज्यकाल में आचार्य कौटिल्य ने शस्त्रों का भेज उनके स्वरूप, आकार तथा गति के आधार पर किया है । गति के आधार पर उन्होंने स्थिर यंत्र और चलयंत्र कहा है । स्वरूप के अनुसार हलमुख शस्त्र कहा है । पूर्ण शस्त्रास्त्रों की विवेचना निम्नवत अलग–अलग की जा रही है :" 6

क– आक्रमणात्मक शस्त्रास्त्र –

आक्रमणात्मक शस्त्रास्त्र में पहले स्थित यंत्र आते हैं । ये स्थित यंत्र दस प्रकार के होते हैं :

1. सर्वतोभद्र –

ऐसा मशीनगन जो एक जगह स्थिर रहकर चारों तरफ गोली की मार करता है ।

2. जामदग्न्य –

ऐसा यंत्र जिसके बीच में छेद हो और उससे बड़े–बड़े गोले बरसाये जायें ।

3. बहुमुख –

किले की दीवारों में ऊंचाई पर बनाये गये वे स्थान, जहां से सैनिक गोले वर्षा तथा वाणवृष्टि चारों दिशाओं में कर सकें ।

---

1. शुक्रनीति, 4/1024/ 1025
2. धनुर्वेद, 14/66/ 2/7, 12/56
3. नीतिप्रकाशिका, 2/4
4. अग्निपुराण, 249/2,3,4
5. युक्तिकल्पतरू, पृ0– 140
6. अर्थशास्त्र, 2/18

4. **विश्वासघाती –**

नगर के बाहर तिरछी वनावट का एक ऐसा यंत्र, जिसको छू लेने से ही प्राणातं हो जाय ।

5. **संघाति –**

लम्बे–लम्बे बासों से बना हुआ वह यंत्र, जो महलों के ऊपर रोशनी फेंके ।

6. **यानक –**

पहियों पर रखा जाने वाला लम्बा यंत्र जिसका प्रयोग रथ आदि सवारी पर रखकर किया जाता था ।

7. **पर्जन्यक –**

(वरूणास्त्र, फायर ब्रिगेड) ऐसा यंत्र जो अग्नि को शान्त करता है ।

8. **बाहुयंत्र –**

पर्जन्यक की ही भांति कार्य करने वाला यह यंत्र होता है, लेकिन आकार में उसका आधा होता है ।

9. **ऊर्ध्वबाहु –**

उपर स्तम्भ की आकृति का ऐसा यंत्र जो नजदीक आने वालों को मार देता है ।

10. **अर्धबाहु –**

ऊर्ध्वबाहु के समान कार्य करने वालायंत्र लेकिन आकार में उसका आधा होता है ।

चलयंत्र –

ये चल कर मार करने वाले यंत्र, हैं जिनका ब्योरा निम्नांकित प्रकार से है :–

1. **पांचालिक –**

बढ़िया लकड़ी पर तेज धार का बना यंत्र जो परकोटे बाहर जल के बीच में शत्रु को रोकने के काम में आता है ।

2. **देवदण्ड –**

कीलरहित, बड़ा भारी स्तम्भ, जो परकोटे के ऊपर रखा जाता है ।

3. **सूकरिका –**

सूत ओर चमड़े की या बांस और चमड़े की बनी हुई मशकारी, जो परकोटे तथा अट्टालक के ऊपर ढंक कर रखी जाती है ।

4. **मुसलयष्टि –**

खैर की मूसल का बना हुआ डंडा, जिसके आगे शूल लगा हो ।

5. **हस्तिवारक –**

दो मुख या तीन मुख वाला हण्डर अर्थात (त्रिशूल ओर त्रिशूल डण्डा) जो हाथी को मारने के लिए प्रयोग किया जाता था ।

6. **तालवृन्त – चारों** ओर घूमने वाला यंत्र ।

7. **मुद्गर**

8. **द्रुघण** – मुद्गर के समान ही एक यंत्र

9. **गदा**

10. **स्पृत्तला** – काटों से युक्त गदा

11. **कुछाल** – फावड़ा

12. **आस्फोटिम –**

चमड़े से बना हुआ चार कोना वाला, मिट्टी के ढेले या पत्थर फेंकने वाला यंत्र

13. **उद्घाटिम –**

मुद्गर के समान आकृति वाला यंत्र

14. **उत्पाटिम –**

अम्में आदि को उड़ा लेने वाला यंत्र

15. **शतघ्नी –**

कीले की दीवार के ऊपर रखा जाने वाला बड़े स्तम्भ की आकृति वाला यंत्र

16. **त्रिशूल –**

तीन मुख वाला यंत्र

17. **चक्र –**

चक्राकार आकृति वाला यंत्र

हलमुख –

भाले के समान हथियार वाले शस्त्रास्त्रों की श्रेणिया निम्न हैं :–

1. **शक्ति –**

कनेर के पत्ते की आकृति का लोहे का बना हथियार

2. **प्रास –**

चौबीस अंगुल लम्बा, दुघारा हथियार, जिसकी मूठ बीच में लकड़ी की बनी हो ।

3. **कुंत –**

इसके बारे में कौटिल्य ने लिखा है कि सात हाा का उत्तम, छः हाथ का मध्यम तथा पांच हांथ का निकृष्ट होता है ।

4. **हाटक –**

यह कुंत के समान तीन काटों वाला हथियार है ।

5. **भिण्डिपाल –**

मोटे फल वाला कुंत के समान होता है ।

6. **शूल –**

तेज मुख वाला हथियार

7. **तोमर –**

वाण के समान तेज मुख वाला, यह चार हाथ का अधम, साढ़े चार हाथ का मध्यम तथा पांच हाथ का उत्त्म माना जाता है ।

8. **बराहकर्ण –**

एक प्रकार का प्रास जिसका मुख सुअर के कान के समान हो ।

9. **कणप –**

लोहे का बना हुआ, दोनों ओर तीन–तीन काटों से युक्त चोबी, बाइस तथा बीस अंगुल क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अधम माना जाता है ।

10. **कर्पण –**

तोमन के समान, हाथ से फेंका जाने वाला बाण

11. **त्रासिका –**

प्रास जैसी सम्पूर्ण लोहे की बनी हुई

ये सब हथियार हलमुख कहलाते हैं । क्योंकि इन सभी का अग्रभाग हल के अग्रभाग जैसा तेज होता है ।

शस्त्रास्त्रों की अन्य श्रेणी :–

1. **धनुष – कार्मुक, कोदण्ड और द्रूण**
2. **बाण –** वेणु, शर, शलाका, दण्डासन तथा नाराच
3. **खड्ग –** निस्त्रिंश, भण्डलाग्र तथा असियष्टि
4. **क्षुरवर्ग –** परशु, कठार, पट्टस, खनित्र, कुदाल, क्रकच तथा काण्डच्छेदन

5. यंत्रपाषाण, गोश्फणपाषाण, मुष्टिपाषाण, रोचनी और दृषद, ये सब आयुध कहलाते हैं ।

कुछ मुख्य शस्त्रों की विशेषताएं :–

1. धनुष –

धनुश ऐसा शस्त्र है जो प्राचीन भारत के प्राचनतम ग्रन्थों में भी अपना स्थान रखता है । ऋगवेद में तो कई स्थलों पर इसका उल्लेख किया गया है । मोहन जोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाई मे पाये गये बाण–फल के अवशेष इस बात को साबित करते हैं कि उस काल में धनुष नामक शस्त्र जरूर रहा होगा ।इसका प्रयोग वैदिककाल में भी किया गया है । आज आधुनिक युग में जंगली आदिम जाति का मुख्य शस्त्र धनुष ही है धनुर्वेद ग्रन्थ की रचना इसी के नाम पर की गयी है ।[1] इस तरह यह माना जा सकता है कि यह प्राचीन भारत का मुख्य शस्त्र था । प्रारम्भिक काल में धनुष लकड़ी के ही बनते थे, लेकिन कालान्तर में इसके स्वरूप में भी परिवर्तन आया । कहीं–कहीं पर लकड़ी की जगह सींग के धनुष बनने लगे । वैसे इसमें लचकता बांस की अपेक्षा ज्यादा था । मजबूती और लचकता को विशेष ध्यान में रखकर लोग धातु के भी धनुष का निर्माण करने लगे ।[2]

धनुश मुख्य रूप से कमानी एवं डोरी के संयोग से बनता है । कमानी जो लकड़ी, सींग एवं धातु द्वारा निर्मित किया जाता था । अग्निपुराण में ऐसा उल्लेख है कि उस समय धातु की कमानी थी ।[3] और ग्रन्थ लकड़ी एवं सींग का ही उल्लेख करते हैं । लकड़ी में प्राथमिकता बांस को दी जाती थी, क्योंकि इसमें लोचकता ज्यादा थी । वैसे बेंत, ताल, दारू, साल तथा चन्दन का भी प्रयोग कमानी के लिए किया जाता था मेजर आर0सी0 कुलश्रेष्ठ ने अग्निपुराण का विवरण देते हुए लिखा है कि – "अग्निपुराण के अनुसार पतझड़ के मौसम में उगे हुए बांस की कमानी श्रेष्ठ मानी जाती थी । सींग में मेढा तथा भैंस के ही सींग उत्तम होते थे ।

---

1. धनुर्वेद, 8/30–33
2. कुरूक्षेत्र वार (ए मिलिटरी स्टडी) पी0सेनशर्मा, पृ0– 17
3. अग्निपुराण, 249/4

धातुओं में अग्निपुराण के अनुसार लोहे, सोना, चांदी और तांबे को ही प्रयोग में लाया जाता था । सम्भवतः सोना व चांदी राजा व सेनापति अथवा श्रेष्ठ योद्धा के ही धनुष में प्रयुक्त होते होंगे । धनुष सींग, धातु तथा लकड़ी के मिश्रित भी होते थे । सींग तथा धातु के धनुश बड़े मंहगे पड़ते होंगे । अतः साधारण सैनिक लकड़ी के धनुष ही प्रयोग में लाते होंगे । 1

डोरी या प्रत्यंचा का निर्माण मूर्वा, मदार, सन, गवेधुकावेणु और तांत तथा चर्म व जानवरों के स्नायु तंतों से किया जाता था । शिव धनुर्वेद में रेशम के धागे व बांस तन्तु के संयोग से बनायी गयी डोरी का उल्लेख किया गया है ।2 साथ ही यह भी कहा गया है कि इस प्रकार तैयार की गयी डोरी सर्वश्रेष्ठ होती है । वैदिक काल में गाय के चर्म की डोरी का उल्लेख मिलता है । डोरी की मोटाई के बारे में बताया गया है कि यह लगभग कनिष्ठका अंगुली की मोटाई के समान होती थी ।

धनुष की लम्बाई आवश्यकतानुसार विभिन्न प्रकार की होती थी । सबसे कम लम्बी धनुष 3 हाथ की होनी चाहिए और उसकी सबसे अधिक लम्बाई साढ़े पांच हाथ होनी चाहिए । धनुर्वेद में ऐसा उल्लेख है कि वह धनुश सबसे उत्तम है जो धनुषधारी की शक्ति के अनुकूल हो ।3 धनुष की लम्बाई लगभग सैनिक के बराबर होती थी । अग्निपुराण में ऐसा उल्लेख है कि 4 हाथ लम्बा साढ़े तीन हाथ लम्बा, एवं तीन हाथ लम्बा, धनुष क्रमश उत्तम, मध्यम एवं निकृष्ट समझे जाते हैं ।4हापकिंस ने महाभारत के आधार पर धनुष की लम्बाई छः हाथ आकी है । धनुर्वेद साढ़े पांच हाथ लम्बे धनुष को प्राथमिकता देता है ।5

आचार्य कौटिल्य ने निर्माण सामग्री के अनुसार धनुष का नामकरण किया है ।6

---

1. मे0आर0सी0 कुलश्रेष्ठ : भारतीय सैन्य विज्ञान, पृ0– 309
   पी0सेनशर्मा : कुरूक्षेत्रवार (ए मिलिटरी स्टडी) पृ0– 185
   सदाशिवधनुर्वेद, 65
2. शिवधनुर्व्रेद, 65
3. धनुर्वेद, 4/58
4. अग्निपुराण, 3/18/9
5. धनुर्वेद, 12/56
6. अर्थशास्त्र, 2/18

(1) **ताल –** यह ताड़ का बना होता है ।

(2) **चाप –** यह अच्छे बांस का बना होता है ।

(3) **दाख –** मजबूती लकड़ी का बना होता है ।

(4) **शार्ड़ग–** सीगों एवं हड्डियों का बना होता हे ।

आकृति और क्रिया भेद से इनके कार्मुक, कोदण्ड और द्रूण आदि नाम है । शिवधनुर्वेद में लकड़ी के धनुश को बासभ तथा सींग द्वारा निर्मित धनुष को सारंगम कहा जाता था । कहीं–कहीं पर धनुष को चाप तथा सारडग नाम से भी जाना जाता है । कुछ धनुष अभ्यास के लिए प्रयोग किये जाते हैं जिन्हें यौगिक कहा जाता है तथा कुछ यौद्धिक कार्यवाही के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं जिनहें यौद्धिक कहा जाता है ।

धनुष को यौद्धिक क्रिया में प्रयुक्त करने के लिए पहले धनुश की कमानी को बायें हाथ से पकड़कर फिर दाहिने हाथ से कान तक डोरी को खींची जाती थी । अगर धनुष बड़ी है तो उसका एक सिरा जमीन पर टेक कर बायें पैर से सहारा देकरदाहिने हाथ से डोरी खींची जाती थी । इस प्रकार सैनिक धनुष का प्रयोग करते थे ।

बाण :–

बाण एक प्रमुख मुक्त शस्9 माना जाता है । प्रारम्भिक काल में इसका निर्माण शरकण्डे द्वारा किया जाता था, जिसके कारण इसे शर भी कहा जाता था । धीरे–धीरे इसकी निर्माण प्रक्रिया में सुधार होने लगा और इसका नाम भी परिवर्तित हो गया । भारतीय वाणों की मारक क्षमता को देखकर विदेशी भी आश्चर्यचकित हो जाते थे । एरियन ने वाणों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि वाणों की प्रहारक क्षमता को रोकने के लिए सारे ढाल एवं कवच असमर्थ थे ।[1] वाणों की बनावट के आधार पर इसमें तीन भाग पाये जाते हैं – (1) फल, (2) शरीर (3) पूंछ

---

1. एरियन : इनवेजन आफ इण्डिया बाई अलक्जैण्डर (मैकृण्डल) पृ0– 132

वाण का शरीर शरकण्डे एवं बास आदि का बना होता था । कौटिल्य [1] ने विभिन्न लकड़ियों के बने वाणों को विभिन्न नाम दिया :–

1. बांस के बने वाण को वेणु कहा गया है ।
2. नरसल के बने वाण को शर कहा गया है ।
3. शलाका, यह मजबूत लकड़ी का बना होता है ।
4. दण्डासन, यह आधा लोहा एवं आधा लकड़ी का बना होता है ।
5. नारांच, यह सम्पूर्ण लोहे का बना होता है ।

कौटिल्य ने वाणों के अग्रभाग में लोहे, हड्डी तथा मजबूत लकड़ी की बनी नोक छेदने, काटने आघात पहुंचाने और रक्तसहित एवं रक्त रहित घाव करने के लिए लगी रहती है ।[2] महाभारत के द्रोणपर्व में ऐसा उल्लेख है कि उस समय भी बनदर, गाय तथा हाथी की हड्डियों का अग्रभाग बनता था ।[3] धनुर्वेद में फलों के भी कई भेद बताये गये हैं ।[4]

1. **आरामुख** – ढाल काटने के लिए
2. **क्षुरप्र** – वाण या हाथ काटने के लिए
3. **गोपुच्छ** – लक्ष्य साधने के लिए
4. **अर्धचन्द्र** – गर्दन, मस्तिशट तथा धनुष काटने के लिए
5. **सूचीमुख** – धनुष की डोरी काटेने के लिए
6. **भल्ल** – हृदय भेदन के लिए
7. **वत्सदत्त** – कवच भेदन के लिए

---

1. अर्थशास्त्र, 2/18
2. वही
3. द्रोण पर्व, 188/11
4. पी0सी0शर्मा : कुरूक्षेत्र वार (ए मिलिटरी स्टडी) पृ0–159

8. **क्षिभल्ल** – वाण को मारने से रोकने के लिए ।

9. **कार्णिक** – लोहवाण काटने के लिए ।

10. **काकडण्ड** – सरल भेद्य वस्तुओं को भेदने के लिए ।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में आग्नेय फलकों का भी उल्लेख किया है । इसके अनुसार वाणों के फलकों में अग्नि प्रज्वलित करने वाले पदार्थ भरे जाते थे ।[1] वाण का अन्तिम भाग पूंछ होता था जो साधारणतया चिड़ियों के पंखों द्वारा बनाया जाता था । धनुर्वेद में ऐसा उल्लेख है कि वाण के पूंछ, काक, हंस बगुला, क्रोच, मोर, गिद्ध आदि चिड़ियों के पंख द्वारा बनाया जाता था । इन पंखों के लगा देने से वाण में सन्तुलन तथा उड़ान शक्ति ज्यादा हो जाती थी । मेजर आर0सी0 कुलश्रेष्ठ ने लिखा है कि ये पंख धागे या स्नायुतन्त्रु से बांधे जाते थे । साधारणतः चार अंगुल लम्बे, चार पंख बांधे जाते थे । लोहे के वाण में पांच पंख बांधे जाते थे । सींग के वाण में दल अंगुल लम्बे पंख लगते थे ।[2] फल एवं पूंछ के द्वारा वाण के शरीर का सन्तुलन बनाया जाता था । धनुर्वेद में ऐसा उल्लेख है कि वाण के फल एवं पूंछ के भारीपन पर उसका नामकरण किया जाता था । जिस वाण का फल भारी होता था वह स्त्रीवाण, जिसकी पूंछ भारी होती थी वह पुरूषवाण तथा जो दोनों तरफ से समान हो वह नपूंसक वाण कहलाता थं । स्त्री वाण दूर तक मार करने के काम में आता था । पुरूष वाण दृढ़ भेदन के काम में आता था और नपुंसक वाण प्रशिक्षण के लिए प्रयोग किया जाता था ।[3]

वाण की लम्बाई लगभग तीन हांथी होती थी शतपथ ब्राम्हण में यह तीन फिट माना गया है ।[4] स्ट्रेवों ने मौर्यकालीन वाण का उल्लेख करते हूए लिखा है कि इसकी लम्बाई तीन हाथ होती थी ।[5] वाण को रखने के लिए तरकस का प्रयोग किया जाता था, जो पीठ पर दाहिने तरफ बांधा जाता था । एक तरकस में 20 वाण होते थे ।

---

1. अर्थशास्त्र, 2/18
2. मे0 आर0सी0 कुलश्रेश्ठ : भारतीय सैन्य विज्ञान, पृ0– 311
3. मे0 आर0सी0 कुलरेष्ठ : इन्ट्रोडक्शन टू धनुर्वेद, पृ0– 11–12
4. शतपथब्राम्हण, 6/14
5. मैकृण्डल : एसियेन्ट इण्डिया (स्ट्रेवो) पृ0– 73

3. तलवार (खड्ग)

प्राचीन भारत में तलवार के प्रयोग के बारे में जानकारी प्राचीन भारतीय ग्रन्थों एवं खुदाई से प्राप्त अवशेषों द्वारा प्राप्त होता है । महाभारत [1] में **असुरों** के संहार हेतु तेजधार वाली खड्ग (असि) का आविष्कार हुआ । इस शस्त्र को प्रमुख शस्त्र माना जाता है । पन्त ने इसके बारे में कहा है कि यह एक लम्बा तथा नुकीले मुख वाला खड्ग है, जो आजकल के किरिका नामक तलवार जैसा है ।[2] भारत में अब भी सिख इस शस्त्र का प्रयोग करते हैं ।

तलवार या खड्ग के बारे में आचार्य कौटिल्य का मत है कि तलवार अपनी बनावट के अनुसार कुछ विशेशताएं रखती हैं, जिनके आधार पर इन्हें कई भागों में बांटा जा सकता है :–

1. **निस्त्रिंश** – जिसका अगला भाग काफी टेढ़ा हो
2. **मण्डलाग्र** – जिसका अगला हिस्सा कुछ गोलाकार हो
3. **असियष्टि** –जिसका आकार पतला एवं लम्बा हो [3]

विशेशताओं के आधार पर दीक्षितर[4] ने इनके नामों की संज्ञा इस प्रकार दी है :–

1. **विशमन** – जो भयानक हो
2. **खड्ग** – शक्तिपूर्ण एवं तीक्षण धार वाला हो
3. **दुरासद** – अन्य द्वारा आक्रमण से युक्त हो
4. **श्रीगर्भ** – सम्प्रत्तिप्रदायक की तिर्वर्धक
5. **विजय** – विजय प्रदायक
6. **धर्ममूल** – धर्मसंरक्षक

---

1. वनपर्व, 20, 42, 159, 168, 229, 240 विराट पर्व 32, उद्योग पर्व 163, 164
   भीष्मपर्व 18, 45, 46, 70, 76, 83, 85, 91
   द्रोणपर्व 14, 19, 27, 35, 36, 41, 50, 85,87,114,141,142,146,154,156,159,164, 176,202
   कर्णपर्व 7,13,22,31,38,47,76,77,85,95
   शल्यपर्व 24, 30
2. पी0सेनशर्मा : कुरूक्षेत्र वार (एक मिलिटरी स्टडी) पृ0– 162
3. अर्थशास्त्र, 2/18
4. यू0आर0रामचन्द्र दीक्षितार : वार इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 116

आदि नामों से पुकारा जाता है ।

तलवार के दो भाग होते थे । एक भाग फल कहलाता था, जिसका निर्माण तेज तथा चमकदार धातु से किया जाता था तथा दूसरा मूठ होता था इसका निर्माण लकड़ी द्वारा किया जाता था । आचार्य कौटिल्य ने मूठ के बारे में लिखा है कि मूठ गेडा भैंस के सींग, हाथी दांत, मजबूत लकड़ी अथवा बांस की जड़ की होनी चाहिए ।[1] मूठ की आकृति के बारे में कोई विशेश उल्लेख नहीं है फिर भी एक आधार पर यह कहा जाता है कि इसका आकार अंग्रेजी अक्षर के "वी" की भांति होता था ।

फल की बनावट के आधार पर ही कौटिल्य ने इसे तीन भागों में बांटा है । एरियन ने चौड़े फल वाले तलवार को प्रमुख एवं श्रेष्ठ माना है । अग्निपुराण में यह वर्णन है कि कमल की पंखुड़ी की नोक के समान फल वाली तलवार को श्रेष्ठ समझा जाता था ।[2] दीक्षितार ने लिखा है कि फल लोहे के बनते थे और इनकी लम्बाई महाभारत में 50 अंगुल बतायी गयी है । विभिन्न विद्वानों ने भिन्न–भिन्न प्रकार की लम्बाई का उल्लेख किया है जैसे देवी पुराण के अनुसार 50 इंच की तलवार त्रिसिख कहलाती थी ।[3] उत्तम तलवार के विषय में आर0सी0 कुलश्रेष्ठ ने लिखा है कि उससे झंकार की आवाज निकलनी चाहिए । उसका रंग कोयल की ग्रीवा के रंग के समान हो । लम्बी, हल्की, पैनी और लचकदार हो ।[4]

तलवार रखने के लिए म्यान या खोल रखा जाता था। जिसका निर्माण चीता, गाय, एवं बकरे के चर्म द्वारा किया जाता था ।[5] गुप्तकालीन सिक्के यह बताते हैं कि तलवार एक पेटी द्वारा कमर से बाई ओर बांधा जाता था । यह एक आमुक्त शस्त्र होता था, जो शत्रु से मुठभेड़ की लड़ाई में प्रयोग किया जाता था । यह अंग काटने एवं शरीर में भोंकने के लिए प्रयुक्त किया जाता था । महाभारत के द्रोणपर्व एवं

---

1. अर्थशास्त्र, 2/12
2. अग्निपुराण, 251/78
3. दीक्षितार : वार इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 118
4. मे0आर0सी0 कुलश्रेष्ठ : भारतीय सैन्य विज्ञान, पृ0– 314
5. विरार्दपर्व, 42/12

अग्निपुराण में इसकी प्रायोगिक विधियों का उल्लेख किया गया है ।[1] एरियन ने लिखा है कि सैनिक इसका प्रयोग केवल दाहिने हाथ से करते थे । कभी–कभी जरूरत पड़ने पर वे दोनों हाथों द्वारा भी इसका प्रयोग करते थे ।

4. शतघ्नी :–

इस शस्त्र के विषय में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न मत दिए हैं । डा0पी0सी0 चक्रवर्ती ने लिखा है कि कुछ लोग इसे 100 गोले (पत्थर के) एक साथ फेंकने वाले लोहे का शस्त्र मानते हैं और कुछ लोग 100 गोले फेंकने वाले लकड़ी के शस्त्र बताते हैं । हैल्हड ने इसे तोप कहा है । विलिसन ने तथा आयरेट ने इसे राकेट माना है ।[2] आचार्य कौटिल्य ने इसे चलयंत्र में स्थान दिया है ।[3] धनुर्वेद में कहा गया है कि यह सिंहासन के सुरक्षार्थ प्रयोग किया जाता था ।[4] यह अनुमान लगाया जाता है कि यह एक साथ 100 व्यक्तियों को मार सकता था । नीतिप्रकाशिका में यह उल्लेख मिलता है कि यह लोहे की कांटेदार मुगदर के समान थी ।[5] वैशम्पायन के अनुसार यह गदा के समान होता था । यह 4 हाथ लम्बा और मजबूत हत्था युक्त होता था । आचार्य कौटिल्य के अनुवादक उदयवीर शास्त्री ने लिखा है कि यह एक विशेष प्रकार का खम्भा होता था जिसमें लम्बी–लम्बी कीलें लगी रहती थी । यह दुर्ग की दीवार से जुड़ी रहती थी । सम्भवत: इन दृष्टिकोणों को देखकर यह कहा जा सकता है कि ये दुर्ग रक्षार्थ प्रयोग किये जाते थे । अर्थात दुर्ग युद्ध में इनका प्रयोग किया जाता था ।

5. शक्ति :–

इसका उल्लेख महाकाव्य [6] एवं कौटिल्य के अर्थशास्त्र [7] में किया गया है । इसकी लम्बाई

---

1. अग्निपुराण, 251/4 तथा नीतिप्रकाशिका, 3
2. पी0सी0चक्रवर्ती : आर्ट्ज्वार इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 172, 173
3. अर्थशास्त्र 2/12
4. आर0सी0कुलश्रेष्ठ : इन्ट्रोडक्शन आफ धनुर्वेदी, पृ0– 13–14
5. नीतिप्रकाशिका, 5/48–49
6. महाभारत, 71, 207, 92, 106
7. अर्थशास्त्र, 18/36

लगभग 3 फीट होती थी । यह दो भागों में बाटा होता है । एक फल जो धातु द्वारा निर्मित होता है और दूसरा हत्था जो लकड़ी का बना होता है । महाकवि कालीदास ने रघुवंश में उल्लेख किया है कि यह शस्त्र शरीर को काटने के लिए प्रयोग किया जाता था ।[1]

6. **गदा –**

यह प्राचीन भारत का प्रमुख बल यंत्र माना जाता है । इसका प्रयोग अति प्राचीनकाल से होता चला आ रहा है । सिकन्दर को मलोई की राजधानी में गदा के प्रहार से आघात पहुंचा था । उस समय एक सिविजाती थी जिसकायह प्रमुख हथियार माना जाता था ।[2] गदा को कौटिल्य [3] ने चल यंत्रों में स्थान दिया है । इसका प्रयोग आधुनिक समय में भी देखने को मिलता है । गदा का निर्माण लकड़ी द्वारा किया जाता था । कहीं – कहीं पर लोहे के गदा का भी उल्लेख है । विभिन्न कालों में गदा की लम्बाई एवं बनावट में विभिन्नता मिलती है । महाभारत में उल्लेख है कि गदा चार हाथ लम्बी एवं षटभुजाकार होता था । [4] नीतिप्रकाशिका में यह उल्लिखित है कि गदा लोहे का बना होता था और यह चार हाथ लम्बा सौ कीलों से युक्त होता था । [5] शुक्रनीति में अष्टभुजाकार का वर्णन मिलता है । धनुर्वेद में चार हाथ लम्बी गदा को सर्वश्रेष्ठ माना गया है । वहां पर यह भी उल्लिखित है कि यह हाथी को भी मारसकता है ।

तोमर :–

वैश्म्पायन में यह तीन हाथ लम्बा हथियार बताया गया है । यह दो भागों में बंटा होता है एक भाग शरीर कहलाता है जो काष्ठ का बना होता है तथा दूसरा अग्रभाग कहलाता है जो धातु का बना होता है । वैश्म्पायन इसे गदा का स्वरूप मानता है लेकिन कौटिल्य ने इसे बल्लम का रूप दिया है ।

---

1. अर्थशास्त्र, 2/24/3
2. मैकृण्डल–इण्डिया एण्ड इट्स इनवेजन बाई अलेक्जेण्डर, पृ0– 234/312/366
3. अर्थशास्त्र, 2/18
4. महाभारत भीश्मपर्व, 51/28
5. नीतिप्रकाशिका, 29/30

कौटिल्य के अनुसार लकड़ी के लम्बे दण्ड में तीरनुमा फलयुक्त शस्त्र होता है । यह हलमुख के अन्तर्गत आता है ।[1]

फरसा :–

यह तेज धारयुक्त हथियार जो लकड़ी के हत्थे में संलग्न होता है । इसका फल लोहे का बना होता है । कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में यह उल्लिखित किया है कि यह अर्द्धमण्डलाकार अथवा टेढ़ी तलवार की भांति होता है । इसकी लम्बाई 2 फीट के लगभग होती है । यह शरीर पर घातक प्रहार कर सकता है । इसे परशुराम का हथियार माना गया है । देहातें में इसका प्रयोग अब भी होता है ।[2]

(ख) प्रतिरक्षात्मक शस्त्रास्त्र :–

सुरक्षा एवं प्रतिरक्षा मानव अपने जीवन के क्रिया–कलापों का अभिन्न अंग मानता है । सुरक्षा की प्रवृत्ति मानव के साथ ही आयी है । पहले मानव आक्रमणात्मक शस्त्रास्त्रों द्वारा ही अपनी सुरक्षा करता था । यानि आक्रामक शस्त्र ही सुरक्षात्मक शस्त्र समझे जाते थे क्योंकि सुरक्षात्मक शस्त्र का अपना कोई अलग अस्तित्व पुरातन काल में नहीं रह गया है । क्योंकि मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाई में मात्र आक्रमणात्मक शस्त्रों का ही उल्लेख मिला है । बाद में चलकर वैदिक साहित्य में कुछ कवचों का उल्लेख मलता है जो सम्पूर्ण शरीर को ढंकने के लिए प्रयुक्त किये जाते थे । ऋगवेद में ऐसा उल्लेख है कि कवच कोट (वर्म), दस्ताने (हस्तध्न) और लोहे तथा तांबे के श्रस्त्राण (शिप्रा) आदि कवच पाये जाते हैं । एक स्थान पर यह भी उल्लेख है कि वरूण को सुनहरीकवच पहने पाया गया है ।[3]

---

1. अर्थशास्त्र, 2/18
2. वही, 11
3. ऋगवेद, 1/25/13

महाभारतकाल आते–आते शस्त्रों ने बहुत ही ज्यादा विकास कर लिया यहां पर सुरक्षा के साधनों का उल्लेखे बहुत ही विकसित पाया जाता है जिसमें कवच, ढाल का उल्लेख विशेषकर है । ये कवच और ढाल ज्यादातर बैल, चीते की खाल एवं मृगछाला का बनता था । कहीं–कहीं पर धातु के श्रस्त्राण का उल्लेख मिलता है ।[1] इससे स्पष्ट है कि इस काल में सुरक्षात्मक शस्त्रास्त्र बहुत ही ज्यादा विकसित हो चुके थे ।

चौथी शताब्दी ईशा पूर्व विदेशियें द्वारा भी ढाल एवं कवच का विवरण प्राप्त होता है । एरियन ने पोरस के रक्षा कवच के विषय में लिखा है कि वह बहुत ही मजबूत था ।[2] उसने बैल के चर्म द्वारा बनाये गये ढाल का भी उल्लेख किया है । आगे यह भी कहा है कि अश्व सैनिक पैदल सैनिक की अपेक्षा छोटे ढाल रखते थे । चन्द्रगुप्तकाल के विद्वान आचार्य एवं चन्द्रगुप्त के ज्ञानी मंत्री चाणक्य ने रक्षा कवचों एवं ढालों का विवरण विस्तृत रूप में इस प्रकार किया है :–[3]

1. **लोहजाल** – यह सिर से पैर तक यानि सम्पूर्ण शरीर को ढाकने वाला आवरण होता है ।

2. **लोहजालिका** – यह सिर के अलावा सारे शरीर को ढकने वाला होता है ।

3. **लोहपट्ट** – बाहों को छोड़कर सारे शरीर को ढकने वाला यानि पीठ और छाती को ढकने वाला पट्ट होता है ।

4. **लोह कवच** – यह केवल छाती और पीठ को ढकने वाला होता है । सम्भवतः यह दो पल्लों में होता होगा जो पीठ और छाती पर बांध लिया जाता होगा या आधुनिक बनियान की तरह होगा जो पहना जा सकता होगा ।

---

1. (अ) भीश्मपर्व, 54/26, 46/31
   (ब) शान्तिपर्व, 166/51
   (स) भीष्मपर्व, 16 व 18 अध्याय
2. मैकृण्डल (एरियन) : इण्डिया एण्ड इट्स इनवैजन बाई अलक्जैण्डर, पृ0– 108
3. अर्थशास्त्र 2/18

5. **सूत्रकंकण** – यह कपास या सूत का बना हुआ कवच होता था ।

6. मछली, गैंडा, नीलगाय, हाथी, बैल, इन पांचों के चमड़े, खुर एवं सींगों को छीलकर बनाया हुआ कवच इनके अतिरिक्त –

(क) शिरस्त्राण – सिर को ढकने वाला रक्षा कवच

(ख) कंठत्राण – गले को ढक देने वाला कवच

(ग) कूपार्स – आधी बाहों को ढंक देने वाला

(घ) कंयुक – घुटनों तक शरीर को ढंक देने वाला

(ड.) वारवाण – सारी देह को ढंक देने वाला

(च) पट्ट – बिना बाहों एवं बिना लोहे का कवच

7. **नागोदरिक** – केवल हाथ की उंगलियों की रक्षा करने वाला कवच

कौटिल्य के सातों प्रकार के कवचों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि केवल ये ही आवरण देह पर धारण किये जाने योग्य हैं ।

आगे उन्होंने कुछ और विभिन्न प्रकार के कवचों का उल्लेख किया है जिसमें चमड़े की पेटी मुंह ढकने का आवरण, लकड़ी की पेटी, सूत की पेटी, लकड़ी का पट्टा, चमड़ा एवं बांस को कूटकर बनायी गयी पेटी, पूरे हाथों को ढकने वाला आवरण और किनारों पर लोहे के पत्तों से बंधा आवरण, आदि अनेक प्रकार के रक्षा कवच होते हैं । डा0 पी0सी0चक्रवर्ती ने इनको विभिन्न प्रकार का ढाल कहा है ।[1] ये ढाल या कवच चर्म, सूत, लकड़ी तथा लोहा आदि विभिन्न पदार्थों से निर्मित किया जाता है ।

इस तरह उस समय ढाल एवं कवच सेना को सुरक्षित करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है लेकिन यह भी उल्लेख मिलता है कि हाथी, घोड़े तथा रथ भी कवचित किये जाते थे । ढाल एवं कवचों के

---

1. पी0सी0 चक्रवर्ती : दि आर्ट आफ वार इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 175

अतिरिक्त सुरक्षात्मक शस्त्रास्त्रों का भी उल्लेख मिलता है । जैसे वरूणास्त्र – जो जल वर्षा करने वाला अस्त्र था और अग्निवर्षक यंत्रों से रक्षा करता था । सूकरिका जो दुर्ग बुर्जो की रक्षा करता था । आजकल जैसे टैंक आदि रक्षा कवच माने जाते हैं, वैसे ही ये शस्त्रास्त्र प्राचीन भारत के रखा कवच माने जाते थे ।

(ग) आग्नेयास्त्र :–

आग्नेयास्त्रों के सम्बन्ध में वार्तालाप एं विवादास्पद विषय है । क्योंकि बहुतेरे विद्वान इस पक्ष में हैं कि 13वीं शताब्दी में जब बारूद का आविष्कार हुआ तभी ये आग्नेयास्त्रों का आविष्कार माना जा सकता है । लेकिन कुछ विद्वान इस बात पर सहमत नहीं हैं वे कहते हैं कि भारत आग्नेयास्त्र बनाने वाले पदार्थो का समुद्र है, इसलिए यहां सबसे पहले आग्नेयास्त्र पाये गये । डा0 गस्तव ओपर्ट का मत है कि प्राचीन ग्रन्थों एवं भारतीय शिल्प कला का मंथन कर यह स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि भारत ही बारूद का प्रथम पिता है । भारत उन सभी पदार्थों से भरा पड़ा है, जो बारूद निर्माण के लिए प्रयोग किये जाते हैं । जैसे शोरा, गन्धक, कोयला आदि । सम्मिलित रूप में ये पदार्थ विश्व के किसी एक देश की तुलना में सबसे अधिक मात्रा में भारत में पाये जाते हैं । भारतीय ग्रन्थों मे ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो यह प्रमाणित करते हैं कि प्राचीन भारतीय अग्निचुर्ण और आग्नेयास्त्रों का आदिकाल से प्रयोग करता चला आ रहा है ।[1] दिक्षितार ने लिखा है कि भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋगवेद में आने वाला नाम "सुमी" जिसका अर्थ आग्नेशास्त्र से लगाया जाता है तथा ऋगवेद संहिता में अग्नि का आह्वाहन शत्रु की पराजय के लिए किया गया[2] अथर्वेद में उल्लेख है कि वार्तलाकर वस्तुओं से शीसे की गोलिया छोड़ी जाती थीं जो एक प्रकार का आग्नेयास्त्र था ।[3] रामायण एवं महाभारत में आग्नेयास्त्रों का प्रयोग बहुत जगहों पर मिलता है । मेजर आर0सी0कुलश्रेष्ठ

---

1. गुस्तव आपर्ट : आन दि वीपन्स, आर्मी आर्गनाइजेशन एण्ड पोलिटिकल मैक्जिमस आफ दि एसियेन्ट हिन्दूज विथ स्पेशनल रिफरेन्स टू गन पाउडर एण्ड फायर, आर्मस, पृ0– 38–68
2. दिखितार : वान इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0–103
3. अर्थवेद 1/16/4

ने धनुर्वेद के श्लोक नम्बर 29 से 34 तककी व्याख्या करते हुए लिखा है कि धनुर्वेदकाल में छोटे या बड़े दो प्रकार की लौह नलिकाएं शस्त्रास्त्र के रूप में संग्रामिक कार्य के लिए प्रयुक्त की जाती थी । छोटी या लघु नलिका की नली प्रवालिष्ट होती थी । जिसका छिद्र ऊपर की तरफ क्रमशः कम चौड़ा होता था । अग्रभाग पर एक तिल बिन्दु होता था जो लक्ष्य प्राप्त करने में सहायता करता था । यांत्रिक क्रिया द्वारा चोट पड़ने पर बारूद आग पकड़ती थी, इसका हत्था मजबूत लकड़ी का बना होता था । नाल का भितरी भाग कापुी बड़ा होता था, अन्दर का व्यास लगभग एक अंगुल का होता था । पैदल तथा अश्व सैनिक अपने शक्ति के अनुसार उचित मोटी नाल वाली हल्की नालिका का प्रयोग करते थे । चौड़ी एवं बड़ी नालिका अपनी नाल की दृढ़ता, लम्बाई एवं मोटाई के कारण दूरभेदी होती थी, यह गाड़ी पर एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जाता था ।[1] दिक्षितार ने लिखा है कि लघु नालिका से अग्निवाण फेंके जाते थे ।[2] हालहेड ने शतघ्नी को इसी श्रेणी में रखा है ।[3]

कामन्दकीय नीतिसार एवं नीतिप्रकाशिका आग्नेयास्त्रों के मामले में एक–दूसरे के पूरक समझे जासकते हैं । क्योंकि दोनों ने ही लोहे और शीशे की गोलियों को यंत्रों से छोड़ने की बात कही है । कामन्दक ने लिखा है कि मदिरापान ओर स्त्रियों एवं जुओं की गोष्ठियों में बैठे राजा को गोली दागकर सचेत करते रहना चाहिए ।[4]

शुक्रनीति में आधुनिक मान्यताओं को छूता हुआ विवरण आग्नेयास्त्रों के बारे में मिलता है । शुक्र ने कहा है कि राजा को युद्ध प्रारम्भ करने से पूर्व अपनी नित्यक्रिया के अनुरूप अपने प्रधान मंत्री से इस बात की जानकारी कर लेनी चाहिए कि उसके पास अग्निचूर्ण का भण्डार कितना है और आग्नेयास्त्रों की

---

1. आर0सी0कुलश्रेष्ठ : इन्ट्रोडक्शन टू धनूर्वेद, पृ0– 13–14
   धनूर्वेद, 39/38
2. दिक्षितार : वान इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 197–98
3. पी0सी0 चक्रवर्ती : आर्ट आफ वार इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 172–73
4. कामन्दकीयनीतिसार पृ0– 5–52

संख्या कितनी है ।[1] शुक्र ने लिखा है कि राष्ट्रीय सैन्य शक्ति में बड़ी तोपों की संख्या हाथियों की संख्या से दुगुनी होनी चाहिए । [2] उन्होंने आगे यह भी लिखा है कि बड़ी सैन्य इकाइयों का संगठन सामान्य सैन्य टुकड़ियों से भिन्न होनी चाहिए, इनमें बन्दूकधारी सैनिकों की संख्या तीन सौ, अश्वारोही सैनिकों की संख्या अस्सी, एक रथ तथा दो बड़ी तोपे होनी चाहिए ।[3]

अग्निपुराण का निर्माण :–

आचार्य शुक्र ने अग्निचूर्ण निर्माण के लिए एक सूत्र को प्रतिपादित किया है जिसका उल्लेख इस प्रकार है –

5 फल शुद्ध यवक्षार (सोरे)

1 फल शुद्ध गंधक

1 फल शुद्ध आक

संहड अथवा केले के कोयले को पीसने ओर उसको आक तथा रसौत के रस में मिलाकर सुखाने खांड स्वरूप अग्निचूर्ण का निर्माण होता है ।

अगर विभिन्न शक्ति के अग्निचूर्ण का निर्माण करना हो तो यवक्षार (सोरे) की मात्रा को घटाया और बढ़ाया जाता है । इसके बाद अग्निचूर्ण में लोहे अथवा शीशे के अथवा मिश्रित कणों को मिलाया जाय आचार्य शुक्र ने बन्दूक की गोली के लिए तैयार किया गया अग्निचूर्ण लोहे तथा शीशे के होने चाहिए, ऐसा आदेश दिया है । तोपों के लिए उन्होंने लोह सारक तथा अन्य धातुओं के बारे में उल्लेख किया है ।[4]

आचार्य शुक्र ने धनुर्वेद की व्यवस्था को सम्मानित किया है और उसी के अनुरूप आचार्य कौटिल्य ने भी छोटे तथा बड़े नलिकास्त्रों का वर्णन किया है ।[5]

---

1. शुक्रनीति, 2/93
2. वही, 4/885
3. वही, 4/887
4. वही, 4/1034–1044
5. अर्थशास्त्र, 2/18

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में आग्नेयास्त्रों का विकास हुआ था लेकिन उनका प्रयोग बहुत कम मात्रा में होता था या नहीं, के बराबर ही होता था । क्योंकि प्राचीन आचार्य धर्मयुद्ध को ज्यादा प्राथमिकता देते थे ऐसे में विध्वंसकारी शस्त्रों का प्रयोग वे पाप समझते थे । मौर्यकाल[1] में आग्नेयास्त्रों के साथ ही रासायनिक शस्त्रास्त्रों का विकास हो गया था जो कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित है लेकिन उसका प्रयोग नहीं किया जाता था । जिस तरह से आजकल ऐसी विध्वंसकारी शस्त्रास्त्रों पर रोक लगा दी गयी है वैसे उस वक्त भी मानवीय पहलुओं को प्राथमिकता देकर इन शस्त्रास्त्रों पर रोक अपने आप लगा लेते थे ।

---

1. अर्थशास्त्र, 2/18

अध्याय (6)

प्रा ची न भा र ती य यु द्ध क ला

प्राचीन भारतीय युद्ध–कला

समरतंत्र एवं समरनीति का संयोग ही युद्ध कला कहलाता है । समरनीति, युद्ध प्रारम्भ होने से पहले उन समस्त युद्ध से सम्बन्धित आवश्यक तैयारी को कहते हैं, जो सैन्य शक्ति में वृद्धि करना, सेना को उचित युद्धोपयोगी शिक्षा देना । शत्रु की तमाम गोपनीय कार्यो का पता लगाना ओर उसके अनुसार आवश्यक सैन्य व्यवस्था बनाना, शस्त्रास्त्र एवं आवश्यक सैन्य सामाग्री का संग्रह करना, उचित समय पर सैन्य यात्रा करना तथा मुहूर्त के अनुसार उपयुक्त स्थान पर पहुंच कर सैन्य शिविर लगाना आदि कार्यवही से सम्बन्धित हो, समरनीति कहलाता है । इन सारी कार्यवाहियों के पूर्ण हो जाने के बाद वास्तविक युद्ध के लिए व्यूह–रचना बनायी जाती है ओर उसके अनुसार सेना से लड़ा जाता है जिसमें दुर्ग का घेरा डालना और उसे तोड़कर उसके अन्दर सुरक्षित सेना पर आक्रमण करना आदि कार्यवाही समरतंत्र के अन्तर्गत आता है ।

(क) युद्ध यात्रा–विधि :–

विजिगीषु को चाहिए कि वह अपने और शत्रु के बीच शक्ति, देश, काल, युद्धकला, सेना की उन्नति का समय (बल समुत्थानकाल) पश्चात्कोप (अपनी सेनारहित राजधानी में पार्ष्णिग्राह के आक्रमण की आशंका) आय, व्यय, लाभ और आपत्ति आदि बलाबल के सम्बन्ध में भलीभांति जानकर शत्रु की अपेक्षा अधिक सेना लेकर उस पर आक्रमण करना चाहिए । यदि अधिक सैन्य बल का प्रबन्ध न हो सके तो चुपचाप बैठ जाना चाहिए । [1]

---

1. अर्थशास्त्र, 1/135–137/1

शक्ति :-

प्राचीन आचार्यो का कहना है कि उत्साह शक्ति और प्रभाव शक्ति इन दोनों में से उत्साह शक्ति श्रेष्ठ है । क्योंकि शूर, बलवान, नीरोग, शस्त्रास्त्र चलाने में निपुण, केवल अपनी ही सेना की सहायता पर निर्भर रहने वाला उत्साह शक्ति सम्पन्न राजा प्रभावशक्ति सम्पन्न राजा को अच्छी तरह जीत सकता है । उसके तेज से उसकी थोड़ी सेना भी हर तरह का कार्य करने के लिए तैयार रहती है । प्रभावसम्पन्न किन्तु उत्साहहीन राजा पराक्रम के समय अपनी रक्षा नहीं कर पाता है ।

पूर्वाचार्यों के इस मत के विरुद्ध आचार्य कौटिल्य का कहना है कि प्रभावशाली राजा उत्साही राजा को अपने प्रभाव से पराभूत कर लेता है । अपने प्रभाव से वह अधिक उत्साही किसी दूसरे राजा को अपने पक्ष में कर सकता है । बहादुर आदमियों को भत्ता, वेतन, धन, आदि देकर वह अपने वश मे कर सकता है । घोड़, हाथी, रथ तथा शस्त्रास्त्र आदि साधनों से युक्त उसकी सेना निःशंक होकर विचरण कर सकती है । इतिहास हमें बताता है कि स्त्री, बालक, लगड़े और अंधे प्रभावशक्ति सम्पन्न राजाओं ने अपने प्रभाव के कारण उत्साहशक्ति सम्पन्न राजाओं को जीतकर अथवा अपने वश में करके पृथ्वी पर विजय प्राप्त की थी । 1

प्राचीन आचार्यो का अभिमत है कि प्रभाव शक्ति सम्पन्न और मंत्री शक्ति सम्पन्न इन दोनों राजाओं में से प्रभावशक्ति सम्पन्न राजा अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि मंत्र शक्ति सम्पन्न होकर भी राजा यदि प्रभाव शक्तिरहित हुआ तो उसका मंत्र सफल नहीं होता । उसके सुविचारित कार्य उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे वृष्टि की अपेक्षा रखता हुआ वर्भस्थ धान्य वर्षा न होने के कारण नष्ट हो जाता है ।

---

1. अर्थशास्त्र, 1/135-136/1/8

आचार्य कौटिल्य ने इस मत के विरूद्ध अपना तर्क देते हुए लिखा है कि प्रभावशक्ति की अपेक्षा मंत्रशक्ति ही श्रेष्ठ हैं क्योंकि जिस राजा के पास बुद्धि तथा शास्त्र रूपी नेत्र है, वह थोड़ा प्रयत्न करने पर ही मंत्र का अच्छी तरह अनुष्ठान कर सकता है ओर उत्साह, प्रभाव, साम तथा ओपनिषदिक उपायों द्वारा शत्रुओं को वश में कर सकता है । इसी प्रकार उत्साह, प्रभाव और मंत्र तीनों शक्तियां उत्तरोत्तर बलवान हैं । अर्थात उत्तरोत्तर शक्ति से सम्पन्न राजा पूर्व–पूर्व शक्ति से सम्पन्न राजा को वश में कर सकता है । 1

देश :–

आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि देश कहते हैं पृथ्वी को । हिमालय से लेकर दक्षिण समुद्रपर्यन्त पूर्व–पश्चिम दिशाओं में एक हजार येजन तक फैला हुआ और पूर्व–पश्चिम की सीमाओं के बीच का भू–भाग चक्रवर्ती क्षेत्र कहलाता है । अर्थात इतनी पृथ्वी पर राज्य करने वाला राजा चक्रवर्ती होता है । उस चक्रवर्ती क्षेत्र में जंगल, आबादी, पहाड़ी, जल, स्थल, समतल ओर ऊबड़–खाबड़ आदि विशेष भाग होते थे । इन भू–भागों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाय जिससे अपनी बल–बुद्धि में निरन्तर विकास होता रहे । जिस प्रदेश में अपनी सेना को कवायद के लिए सुविधा तथा शत्रुसेना की कवायद के लिए असुविधा हो वह उत्तम देश, जो इसके सर्वथा विपरीत हो वह अधम देश और जो अपने तथा शत्रु के लिए एक समान सुविधा–असुविधा वाला होवह मध्यम देश कहलाता है । 2

काल :–

काल को आचार्य कौटिल्य ने तीन विभागों में बोटा है । सर्दी, गर्मी और वर्षा । काल का यह प्रत्येक भाग रात, दिन पक्ष, मास, ऋतु अयन संवत्सर तथा युग आदि विशेषताओं में विभक्त है । समय

---

1. अर्थशास्त्र, 1/135–136/1/5
2. वही, 1/135–136/1/6

के इन विशेश भागों में अपनी शक्ति को बढ़ाने योग्य कार्य करना चाहिए । जो ऋतु अपनी सेना के व्यायाम के लिए अनुकूल हो वह उत्तम ऋतु, जो इसके विपरीत हो वह अधम ऋतु और जो सामान्य हो वह मध्यम ऋतु कहलाती है । 1

प्राचीन आचार्यों के वैचारिक मतभेदों का आकलन करने पर पता चलता है कि कुछ आचार्य शक्ति, देश और काल इन तीनों में से शक्ति को सर्वोच्च मानते हैं । क्योंकि शक्ति सम्पन्न राजा ऊबड़–खाबड़ प्रदेश और वर्षा, गर्मी आदि प्रतिकूल समय में भी विपरीत परिस्थितियों का प्रतिकार करने में समर्थ होता है । लेकिन आचार्य इन तीनों में देश को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, उनका कहना है कि जमीन पर तो कुत्ता घडियाल को खींच लेता है ओर पानी में वहीं घड़ियाल कुत्ते को खींच लेता है । इसके विपरीत कुछ आचार्य समय को भी श्रेष्ठ मानते हैं । उनके अनुसार यह समय का ही प्रभाव है कि दिन में कौवा उल्लू को मार लेता है, रात में उल्लू कौए को । लेकिन आचार्य कौटिल्य ने इन वैचारिक मतभेदों को सुलझाते हुए लिखा है कि शक्ति, देश, काल ये तीनों ही प्रबल और एक दूसरे के पूरक हैं । 2

यात्रा–काल ::–

विजिगीशु राजा को चाहिए कि वह शक्ति देश, काल से सम्पन्न होकर आवश्यकतानुसार सेना के तिहाई या चौथाई भाग को अपनी राजधानी, अपने पार्ष्णि और अपने सरहदी इलाकों की रक्षा के लिए नियुक्त कर यथेष्ठ कोश तथा सेना को साथ लेकर शत्रु पर विजय करने के लिए अगहन मास में युद्ध के लिए प्रस्थान करे । क्योंकि इस समय शत्रु का पुराना अन्न संचय समाप्ति पर होता है । नई फसल के अन्न को संग्रह करने का समय वही होता है और वर्षा के बाद किलों की मरम्मत नहीं हुई रहती है । वही समय है जबकि वर्षा ऋतु से उत्पन्न फसल को ओर आगे हेमन्त ऋतु में पैदा होने वाली फसल, दोनों को

---

1. अर्थशास्त्र, 1×134/136/1/7
2. वहीं, 1/135–136/1/11

नष्ट किया ज सकता है । इसी प्रकार हेमन्त ऋतु की पैदावार को और आगे बसन्त ऋतु में होने वाली पैदावार को नष्ट करने के लिए उपयुक्त युद्ध प्रयाण–काल चैत्र मास में है । यात्रा का यह दूसरा समय है इसी प्रकार बसन्त की पैदावार को और आगे की होने वाली वर्षाकाल की फसल को नष्ट करने का उपयुक्त समय ज्येष्ठ मास मे है । क्योंकि इस समय घास, फूस, लकड़ी, जल आदि सभी क्षीण हुए रहते हैं और इसीलिए शत्रु अपने दुर्ग की मरम्मत नहीं कर पाता है । यात्राकाल का यह तीसरा अवसर है । ये तीनों यात्राकाल शत्रु को हानि पहुंचाने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं ।

जो देश अत्यन्त गरम हों, जहां यवस (पशुओं की खाद्य सामग्री), ईंधन तथा जल की कमी हो वहां हेमन्त ऋतु में युद्ध के लिए प्रस्थान करना चाहिए जिस देश में लगातार बरफ पड़ती हो या बारिश होती हो, जहां बड़े–बड़े तालाब एवं घने जंगल हों वहां ग्रीष्म ऋतु में युद्ध के लिए जाना चाहिए । ऐसा समय जो अपनी सेना के कवायद के लिए उपयुक्त हो और शत्रु सेना के लिए अनुपयुक्त हो । ऐसे देश पर वर्षा ऋतु में आक्रमण करना चाहए ।

जब किसी दूर देश के आक्रमण में अधिक समय लग जाने की सम्भावना हो तो वहां मार्गशीर्ष और पौष इन दो महीनों में यात्रा करनी चाहिए । मध्यकालीन यात्रा चैत्र–बैशाख के बीच करनी चाहिए । जहां थोड़े समय में यात्रा हो जाने की समभावना हो वहां ज्येष्ठ–आषाढ़ में प्रस्थान करना चाहिए । जब कभी शत्रु पर व्यसन आया दिखाई दे तब समय की बिना उपेक्षा किये चढ़ाई कर देना चाहिए ।

प्राचीन आचार्य प्रायः यह कहते हैं कि जब भी शत्रु पर आपत्ति आयी जान पड़े तभी उस पर आक्रमण कर देना चाहिए । अत्यन्त गर्मी के मौसम में हाथियों को छोड़कर ऊंट आदि की सेना लेकर आक्रमण करना चाहिए, क्योंकि पानी के अभाव में अत्यधिक उष्ण प्रदेशों में हाथी कोढ़ी हो जाया करते हैं । स्नान के अभाव से और पानी के लिए पर्याप्त पानी न मिलने के कारण अन्दर का दाह बढ़ कर हाथी अन्धे हो जाते हैं । इसलिए जिस देश में पर्याप्त जल हो वहीं हाथियों की सेना लेकर आक्रमण करना चाहिए

जिस देश में वर्षा होने पर भी कीचड़ कम होता हो ऐसे रेगिस्तानी देशों में हाथी, घोड़े, रथ और पैदल, इस चतुरंग सेना को लेकर भी आक्रमण किया जा सकता है । 1

इन विवेचनाओं के आधार पर यह मत सामने आता है कि प्राचीन आचार्य उपयुक्त समय पर यात्रा किया करते थे । मात्र मौसम और महीना ही यात्रा काल के लिए उपयुक्त नहीं समझा जाता था बल्कि निश्चित तिथि, वार तथा घण्टा का भी विचार किया जाता था । इस कार्य को राज्य का ज्योतिषी करता था । उसी के अनुसार शुभ मुहूर्त निश्चित की जाती थी । और पिुर यात्रा प्रारम्भ की जाती थी ।

यात्रा की तैयारी ::-

सैन्य यात्रा के लिए जब उचित मुहूर्त मिल जाय, तब उसके बाद सैन्य संगठन किया जाता है और सैनिक शस्त्रास्त्र का संग्रह भी किया जाता है । इस पर आचार्य कौटिल्य ने अपने विचार को व्यक्त करते हुए लिखा है कि जब यात्रा की तैयारी होने लगती थी तब सर्वप्रथम विभिन्न प्रकार की सेना का संगठन व शस्त्रास्त्रों का संग्रह आदि किया जाता था । इसके लिए शत्रु की सैनिक स्थिति पर भी विचार किया जाता था और अपने पश्चत्कोप, अभ्यान्तर एवं बाह्य कोप पर भी विचार किया जाता था कि कहीं ऐसा न हो कि राजा ओर सेना के बाहर जाने के बाद राज्य में पदाधिकारी आन्तरिक अशान्ति उत्पन्न कर दें या बाह्य से शत्रु देशों के व्यक्ति या आटवी व्यक्ति आक्रमण कर दें ।[2]इसके लिए विजिगीषु राजा अपने राज्य में उपयुक्त सेना को छोड़ जाते थे, जो मुख्य आधार की रक्षा करते थे ।

यात्रा प्रारम्भ करने से पहले ही गावों, जंगलों तथा मार्गो में ठहरने योग्य स्थानों का घास, लकड़ी तथा जल आदि के अनुसार निर्णय कर ओर वहां पर पहुंचने, ठहरने, वहां से जाने आदि का पहले से समय का निश्चय करके फिर विजिगीषु को यात्रा के लिए घर से निकलना चाहिए । उस यात्रा में

---

1. अर्थशास्त्र, 1/1 या 9/1
2. अर्थशास्त्र, 9/3

खाने–पीने और पहनने–ओढ़ने के लिए जितने सामान की आवश्यकता हो उससे दुगुना सामान साथ रखना चाहिए । यदि सारा सामान सवारियों पर न जा सके तो उसमें थोड़ा–थोड़ा सैनिकों को दे देना चाहिए । अथवा पड़ाव के लिए नियुक्त स्थानों से आवश्यक सामान को संग्रह करके साथ ले जाना चाहिए ।[1]

सारी तैयारियों के हो जाने के बाद सैन्य अभियान प्रारम्भ किया जाता था । यह सैन्य अभियान दैवपूजा के बाद ही शुरू किया जाता था । कामन्दक ने लिखा है कि सैन्य यात्रा से पूर्व राजा को ईश्वर तथा द्विज (ब्राम्हण) की पूजा करनी चाहिए ।[2] वाण ने हर्षचरित में यह उल्लेख किया है कि हर्ष दिग्विजय के लि प्रस्थान करते समय दैव पूजा की थी । मेजर आर0सी0 कुलश्रेष्ठ ने लिखा है कि दैवपूजा के बाद प्रातः ब्रम्हमुहूर्त में कूच का डंका बजाया जाता था । हर्ष की यात्रा के वाण द्वारा दिये गये विवरण से ज्ञात होता है कि जिस दिन जितने कोस की यात्रा करनी होती थी, उतनी ही चोटें नगाड़े पर कूंच का डंका बजाते समय लगायी जाती थी, ताकि सभी सैनिक को उस दिन की यात्रा दूरी का ज्ञान हो जाय । कौटल्य के मत से भी एक दिन में ज्यादा से ज्यादा दो योजन की यात्रा की जानी चाहिए । हर्ष की यात्रा के समय भी आठ कोस की यात्रा के लिए आठ चोटें नगाड़े पर मारी गयी थीं । [3]

यात्राकाल के दौरान सैनिक क्रम :–

सैन्य यात्राकाल के दौरान सैनिक तथा उनके पदाधिकारी किस क्रम में चलते थे इसका उल्लेख के अर्थशास्त्र में विस्तृत रूप में दिया गया है । महाभारत, वाण का हर्षचरित एवं कामन्दक का कामन्दकनीतिसार में भी इसका उल्लेख किया गया है । महाभारत के अनुसार सबसे आगे कुछ महारथी चलते थे । बीच में राजा तथा सामग्रीयुक्त वाहन ओर सबसे पीछे प्रमुख सेनाध्यक्षों के अधीन मुख्य सेना चलती थी ।[4] कौटिल्य ने सैनिक क्रम की व्याख्या अपने अर्थशास्त्र में इस प्रकार की है । सेना के सबसे

---

1. अर्थशास्त्र, 10/2
2. कामन्दक नीतिसार, 29/2
3. मेजर आर0सी0कुलश्रेष्ठ : भारतीय सैन्य विज्ञान, पृ0– 300
4. महाभारत, उद्योगपर्व, अ0 1

आगे दस सेनापतियों के प्रमुख नायक को चलना चाहिए, बीच में अन्तःपुर तथा राज चले, अगल–बगल में भुजाओं से ही शत्रु के आघात को रोकने वाला घुड़सवार सेना चले, पिछले भाग में हाथी चले ओर अन्न, घास फूस आदि सब सामान चारों ओर से ले जाया जाय । जंगल में पैदा होने वाले अन्न, घास आदि आजीविका योग्य वस्तुओं को प्रसार कहते हैं । अपने ही देश से अनाज आदि द्रव्यों के आयात को बीवध कहते हैं । मित्र की सेना को आसार कहा जाता है । रानियों के ठहरने के स्थान को अयसार कहते हैं । यात्राकाल में अपनी–अपनी सेना के सबसे पीछे सेनापति रहे ।[1]कामन्दक ने लिखा है कि मध्य में राजा तथा अन्तःपुर के साथ कोष एवं कमजोर सैनिकों को रखा जाय । पार्श्व में अश्व सेना के साथ रथसेना रखी जाय । उन्होंने रथ एवं अश्व सेना को पीछे भी रखने का आदेश दिया है । उनके अनुसार राजसेना के पीछे जंगली जाति के सैनिकों की सेना तथा प्रधान सेनापति रहता था ।[2] जो घबराये हुए सैनिकों को साहस बंधाता था । बाण ने भी सारी घटनाओं को इसी क्रम में बताया है लेकिन उन्होंने सबसे पहले ध्वजारोहियों को चलने का आदेश दिया है । इस तरह प्राचीनकाल में सेनिक यात्रा करते समय भी श्रृंखलावद्ध होकर चलते थे, जो शत्रु के किसी भी कार्यवाही को असफल बना सकता था ।

यात्राकाल के समय व्यूह रचना :–

जब सेना प्रयाण कर देत ी उसे व्यूह रचना के अनुसार चलना चाहिए । क्योंकि यात्रा के दौरान शत्रु के आक्रमण की आशंका बराबर बनी रहती है । आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में यह लिखा है कि यदि सामने की ओर से शत्रु आक्रमण की आशं ा हो तो मकराकार व्यूह की रचना करके शत्रु की ओर बढ़ना चाहिए । यदि आक्रमण की पीछे से सम्भावना हो तो शकट व्यूह बनाकर आगे बढ़ना चाहिए, यदि अगल–बगल से आक्रमण की सम्भावना हो तो चक्रव्यूह बनाकर आगे बढ़ना चाहिए और यदि चारों तरफ से आक्रमण की सम्भावना हो तो सर्वताभद्र व्यूह बनाकर आगे बढ़ना चाहिए । यदि मार्ग इतना तंग हो कि उससे एक साथ न जाया जाय तो सूची व्यूह बनाकर आगे बढ़ना चाहिए ।

---

1. अर्थशास्त्र, 10/148–149/2/
2. कामन्दकीयनीतिसार, अ0 19
3. अर्थशास्त्र, 10/148–149/2/3

सेना के लिए मार्ग एवं गति :::–

सैन्य प्रस्थान के लिए किस तरह का मार्ग होना चाहिए ? सेना एक दिन में कितनी दूरी की यात्रा तय करे तथा मार्ग में नदी–नालों द्वारा कोई व्यवधान उत्पन्न होता हो तो उसे कैसे पार करें आदि प्रश्न भी एक विचारणीय तथ्य हैं । इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि यदि मार्ग में किसी प्रकार का द्विविधा हो तो उसी मार्ग से प्रस्थान करना चाहिए, जिससे चतुरंगिणी सेना आसानी से जा सके । क्योंकि अनुकूल मार्ग से चलने वाले राजा पर प्रतिकूल मार्ग से चलने वाला राजा आक्रमण नहीं कर सकता है । प्रतिदिन एक योजन (चार कोस) चलना अधम गति है । डेढ़ योजन चलना मध्यम गति और दो योजन चलना उत्तम गति कहलाती है । अथवा सुविधानुसार प्रतिदिन कितना चला जासके, उतना चलना चाहिए । आचार्य कौटिल्य ने यह कहा है कि विजिगीषु जब यह सोचे कि "अपनी उन्नति के लिए मुझे किसी राजा को आश्रय बनाना चाहिए अथवा धनधान्य सम्पन्न किसी शत्रुदल को नष्ट करना है, या पार्ष्णिग्राह, आसार, मध्यम और उदासीन राजा का प्रतिकार करना है, तो धीरे से यात्रा करे । उबड़–खाबड़ मार्ग को साफ करने के लिए भी धीरे से यात्रा करे । अथवा जब कोष, अपनी सेना, मित्र सेना, शत्रुसेना आटविक सेना, कारीगर और अपनी सेना के अनुकूल ऋतु की प्रतीक्षा करनी हो तो तब भी धीरे–धीरे यात्रा करे, अथवा जब यह सम्भावना हो कि शत्रु की दुर्ग बेमरम्मत है, उसका संगृहीत धान्य भी समाप्तप्राय है, उसके रक्षा साधन भी विनष्ट हैं, धन देकर अपने वश में की हुई सेना भी उससे खिन्न है और मित्र सेना भी उससे विरक्त है, तो भी धीरे–धीरे यात्रा करे । अथवा जब समझे कि शत्रु द्रोही लोग अभी जल्दी में नहीं है, अथवा युद्ध के बिना ही शत्रु मेरे अभिप्राय को पूरा कर देगा, तब धीरे–धीरे यात्रा करे । इसके विपरीत अवस्थाओं में शीघ्रता से ही यात्रा करनी चाहिए ।

---

1. अर्थशास्त्र, 10/148–149/2/5

नदी–नालों को पार करना :–

मार्ग में नदी–नालों को पार करने की कार्यवाही पर अपने मत व्यक्त करते हुए आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि यात्राकाल में हाथियों, लकड़ी के खम्भों, झूलों, पुलों, नौकाओं लकड़ी तथा बांस के बेड़ों, तूम्बियों, चर्मकाण्डों, चमड़े की तूम्बियों, मोमजामा के तकियों, काग की लकड़ी के बड़ों और मजबूत रस्सियों से सेनाओं को नदी पार उतारा जाय । यदि नदी के घाट शत्रु के कब्जे में हो तो हाथी और घोड़ों के द्वारा रात में दूसरी ओर से बिना घाट के ही अपनी सेनाओं के पार उतार कर शत्रु के स्थानों पर कब्जा कर लेना चाहिए । [1]

जलविहीन प्रदेश में रास्ता तय करना :–

आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि जिस प्रदेश में जल न हो वहां गाड़ी, बैल आदि चौपायों द्वारा पास में पर्यापत जल रखकर मार्ग तय किया जाय ।[2]

आचार्य कौटिल्य ने आगे यह भी लिखा है कि विजिगीषु को चाहिए कि वह लम्बा रास्ता तय करने वाली तथा जंगलों से होकर सफर करने वाली अपनी सेना की भरसक रक्षा करे । मार्ग में जल न पाने वाली धान, भूसा, ईंधन, लकड़ी आदि से हीन कठिन मार्ग में चलने वाली, लम्बे समय युद्ध में रहने के कारण खिन्न, भूख, प्यास तथा सफर के कारण बेचैन, भारी दलदल, गहरे पानी, नदी, गुफा तथा पर्वत आदि को पार करने एवं चढ़ने–उतरने में संलग्न, लम्बे रास्ते में, विषम स्थान में या पहाड़ी किलों में एकत्र, लम्बा सफर करने से थकी, नींद लेती हुई ज्वर, महामारी तथा दुर्भिक्ष से पीड़ित, बीमार, पैदल घोड़ों हाथी से युक्त प्रतिकूल भूमि में ठहरी, सैनिक आपत्तियों से पस्त, आदि जितनी भी कठिनाइयां हैं, उनमें विजिगीषु को अपनी सेना की रक्षा करनी चाहिए । साथ ही विजिगीषु को चाहिए कि उक्त अवस्थाओं को प्राप्त हुई शत्रु की सेना को नष्ट–भ्रष्ट कर डाले ।

---

1. **अर्थशास्त्र**, 10/148–149/2/6–7
2. **अर्थशास्त्र**, 10/148–149/2/6–8

जब शत्रु एक ही जाने योग्य तंग रास्ते से जा रहा हो उस समय एक–एक करके जाते हुए सैनिकों की, उनकी सवारियों की, भोजन आदि सामग्री की सोने के स्थान की, भोजन पकाने के चूल्हों की और अस्त्र–शस्त्रों की गिनती कर शत्रु सेना की इयन्ता का पता लगा लेना चाहिए । अपनी सेना की इयन्ता का पता देने वाले साधनों को छिपा देना चाहिए या नष्ट कर देता चाहिए ।

विजिगीषु को चाहिए कि वह अपसार (भागे हुए या पराजित के छिपने की जगह) और प्रतिग्रह (आक्रमण करती हुई शत्रु सेना को गिरफतार करने की जगह) के मुक्त पहाड़ी तथा जंगली दुर्ग अच्छी तरह तैयार करके और सर्वथा अनुकूल भूमि में ठहर कर युद्ध करे अथवा निश्चिन्त होकर निवास करे । [1]

(ख) शिविर रचना :–

आधुनिक युद्ध के लक्षण एवं कार्यवाहियों प्राचीनकाल के युद्धों से समूल भिन्न था । प्राचीन समय में युद्ध पूर्वघोषित तिथि पर एवं पूर्व नियोजित स्थल पर ही लड़ा जाता था, जहां पर दोनों तरफ की सेनाएं हफतों पहले आकर अपनी सैन्य शिविर का निर्माण कर लेती थी । यह स्थल अति सुरक्षित भूमि पर होता था, जहां सेनाएं विश्राम, युद्ध की तैयारी एवं पूर्वाभ्यास करती थी, गुप्त योजनाओं का भी निर्माण यहां किया जाता था । यहीं पर सैनिकों के भोजन आदि की भी व्यवस्था होती थी । ऐसे सैन्य शिविरों को या पड़ावों को स्कन्धावार कहा गया है । डा0पी0सी0 चक्रवर्ती ने लिखा है कि शत्रु देश में युद्ध करने के उद्देश्य से चतुरंगबल को किसी एक स्थान पर एकत्रित करने तथा युद्ध की तेयारी करने के लिए जो पडाव डाले जाते थे, शिविर कहे जाते थे ।[2]एक जगह उल्लेख है कि विजय नगर के शिलालेख में सैनिक पडाव को कन्धाचार कहा जाता था ।[3] वैसे सैन्य शिविर सुरक्षित भूमि पर ही लगाया जाता था । लेकिन शत्रु के आक्रमण का भय सैन्य शिविरों पर नहीं होता था । परन्तु सैनिकों को अभ्यास कराने तथा अप्रत्याशित परिस्थितियों से निपटने के लिए शिविर की सुरक्षा के लिए खाइयों आदि का निर्माण किया जाता था ।[4]

---

1. अर्थशास्त्र, 10/148–149/2/9, 10, 11
2. पी0सी0चक्रवर्ती : दि आर्ट आफ वार इन एसियेन्ट इण्डिया पृ0–10
3. दिक्षितार : वार इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 243
4. वही, पृ0– 243–45

शिविर निर्माण ::::–

कौटिल्य[1] का मत है कि शिविर का निर्माण राजधानी के समान होनी चाहिए । उनके अनुसार भवन निर्माण कला के विशेषज्ञों द्वारा प्रशासित क्षेत्र में, सेनापति (नायक) कारीगर (वर्धकि) और ज्योतिषी (मैहूर्तिक) ये तीनों पारस्परिक परामर्श से गोलाकार, लम्बा, चौकोर, या जैसी भूमि हो उसी के अनुसार चारों दिशाओं में चार दरवाजों, छः मार्गो और नौ संस्थानों (डिविजन्स–वर्गो) से युक्त सैनिक छावनी (स्कन्धावार) का निर्माण करावें । खाई, सफील, परकोटा, एक प्रधान द्वार और अट्टालिकाओं से युक्त स्कंधावार उसी अवस्था में बनाया जाय, जबकि आक्रमण का भय तथा अधिक समय तक वहां टिके रहने की सम्भावना हो ।

साधारणतः यह देखा गया है कि जो भी प्राचीनतम युद्ध हुआ है, उसमें ज्यादातर सभी नदी के किनारे ही हुए हैं । इसलिए सैन्य शिविर का निर्माण नदी के किनारे ही होता था । इस पड़ाव से जल की प्राप्ति, आवागमन की सरलता तथा किसी एक ओर से (जिधर से नदी बहती थी) सुरक्षा आदि की व्यवस्था सहज ढंग से हो जाती थी । महाभारत युद्ध के समय पांडवों का पड़ाव हिरक्ती नदी के किनारे डाला गया था ।[2]हर्ष की छावनी पासीतारा के समीप अजिरवर्ती नदी के किनारे बनी थी ।[3]इस तरह कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित सैन्य शिविर का निर्माण (लगभग प्राचीन काल, यहां तक कि महाभारत भी इसकी पुष्टि करता है) अति प्रसंशनीय था ।

कौटिल्य ने बताया है कि स्कंधावार के बीच में उत्तर की ओर नौवें हिस्से में सौ धनुष लम्बा तथा पचास धनुष चौड़ा राजा का निवास स्थान बनवाया जाय । उसके आधे हिस्से में पश्चिम की ओर अन्तःपुर का निर्माण कराया जाय और अन्तःपुर के समीप ही अन्तःपुर रक्षकों के लिए भी स्थान बनवायें जाय

---

1. अर्थशास्त्र, 10/147/1/1
2. उद्योगपर्व, 60/2
3. हर्षचरित द्वितीय उच्छवास–वाण, 68–69

राजगृह के सामने राजा का विश्राम स्थान (उपस्थान) होना चाहिए । राजगृह की दाहिनी ओर खजाना, सेक्रेटिएट (शासनकरण) और कार्य निरीक्षकों (कार्यकरण) के स्थान बनाये जायें । राजगृह के बाई ओर हाथी, घोड़ा, रथ आदि वाहनों के लिए स्थान होना चाहिए । राजगृह के कुछ दूर चारों ओर रक्षार्थ चार बाड़ बनवाई जाय, जिनमें पहली बाड़ गाड़ियों की, दूसरी बाड़ कांटेदार लताओं की, तीसरी बाड़ मजबूत लकड़ी के खम्भों की और चौथी बाड़ मजबूत चहारदीवारी के ढंग की होनी चाहिए । प्रत्येक बाड़ का फासला सौ–सौ धनुष का होना चाहिए । पहले बाड़ के बीच में सामने की ओर मंत्रियों और पुरोहितों के स्थान बनवाने चाहिए । दाहिनी ओर भोजन भण्डार ओर रसोई घर होने चाहिए । बाईं ओर लोहा, तांबा, लकड़ी आदि रखने की जगह ओर आयुधागार होना चाहिए । दूसरी बाड़ के बीच में भौलमृत आदि सेनाओं के स्थान ओर घोड़ों तथा सेनापति के स्थान होने चाहिए । इसी प्रकार बाड़ के तीसरे घेरे में हाथियों, श्रेणीबल तथा प्रशास्ता (कंटकशोधनका अध्यक्ष) के स्थान होने चाहिए । बाड़ के चौथे घेरे में कर्मचारी वर्ग (विष्टि) नायक (दस सेनापतियों का प्रधान) और अपने विश्वस्त अधिकारियों से संरक्षित मित्र सेना, शत्रु सेना तथा आटविक सेना के स्थान बनवाये जाय । बहेलिए, शिकारी, बाजे तथा अग्नि आदि के इशारे से शत्रु के आगमन की सूचना देने वाले और ग्वाले आदि के वेष में रहने वाले रक्षकों को सबसे बाहर की ओर बसाया जाय । [1]

जिस मार्ग से शत्रु के आने की सम्भावना हो वहां कुएं, गढे आदि खोदकर और लोहे की कीलों या कांटो से युक्त तख्तों को बिछाकर शत्रु को रोकने का प्रबन्ध किया जाय । हर समय पहले के लिए अठारह वर्गों को बारी–बारी से नियुक्त किया जाय । शत्रु के गुप्तचरों का पता लगाने के लिए दिन–रात अपने आदमियों को घूमने के लिए नियुक्त करना चाहिए । कौटिल्य[2] के इस बात को प्रमाणित करते हुए डा0

---

1. अर्थशास्त्र, 10/147/1/2
2. दिक्षितार : वान इन एंसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 244

दिक्षितार ने लिखा है कि शत्रु के गुप्तचरों की जानकारी हेतु कूछ सैनिक गुप्त वेश में शिविर के बाहर घूमते रहते हैं ।[1]इस कार्य हेतु कुछ अश्व सैनिक आस–पास से आने वाले सामानों की रक्षा भी करते थे । [2]

सैनिकों को अनुशासित रखने के लिए उन्हें आपसी झगड़ों, मदिरापान और जुआ आदि खेलने से सैनिकों को सर्वथा रोक लिया जाय । छावनी के भीतर–बाहर आने–जाने के लिए राजकीय मुहर का पास बनाया जाय । राजा की लिखित आज्ञापत्र के बिना युद्धभूमि से लौटने वाले सैनिकों को, शून्यपाल (राजधानी का रक्षण अधिकारी) गिरफतार कर ले ।

कौटिल्य ने आगे यह भी लिखा है कि प्रशास्ता (कंटक शोधन अधिकारी) को चाहिए कि वह सेना और राजा के प्रस्थान करने से पहिले कारीगरों, मजदूरों तथा अध्यक्षों को साथ लेकर चला जाय और मार्गरक्षा का तथा आवश्यकतानुसार जल आदि का अच्दी तरह प्रबन्ध करें ।[3]कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित शिविर स्थल, चयन एवं शिविर निर्माण आदि की मान्यता कामन्दक ने भी दी है ।[4] महाभारत में वर्णित भीशमपर्व की व्यवस्था लगभग कौटिल्य की व्यवस्थासे एकदम मिलती–जुलती है ।[5]

उपरोक्त विवरण यह स्पष्ट करता है कि प्राचीन भारतीय आचार्यो द्वारा प्रतिपादित सैन्य शिविर निर्माण व्यवस्था आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों से लगभग मेल खाता है । प्राचीन आचार्यो ने तो यहां तक कहा है कि असुरक्षित नगर जिस प्रकार अपनी सुरक्षा के लिए नागरिकों पर निर्भर करता है, उसी प्रकार शिविर अपने सैनिकों पर । [6]

---

1. दिक्षितार : वार इन एसियेन्ट इण्डिया, पृ0– 244
2. वही
3. अर्थशास्त्र 10/147–/1/3/4–5
4. कामन्दकीय नीतिसार, 16/6–13
5.
6. रामदीन पाण्डेय, प्राचीन भारत की संग्रामिकता, पृ0– 146

(ग) युद्ध–विधि :–

युद्ध :–

प्राचीन भारतीय आचार्य युद्ध को निम्नांकित कोटि की कार्यवाही मानते हैं, इसीलिए वे युद्ध के विरूद्ध अपने मत अभिव्यक्त करते हैं। उनके अनुसार युद्ध का खतरा तभी उठाना चाहिए जबकि सारे विकल्प के बांध टूट जायें और अपने उद्‌देश्य की प्रापित के लिए अन्य सभभ उपाय क्षीण होते जान पड़ें। कामन्दक के अनुसार युद्ध से दोनों पक्षों का नाश होता है। महाभारत में कहा गया है कि राजा लोग पृथ्वी को युद्ध द्वारा विजित करते थे परन्तु युद्ध करना जघन्य अर्थात निन्दनीय है। मनु का मत है कि युद्ध करने से पहले राजा (या राज्य) को अन्य तीनों उपायों – साम, दाम और भेद का प्रयोग करना चाहिए। [1]

अर्थशास्त्र के "दण्डोपनायिवृत्त" (दण्ड आदि द्वारा पराधीन राजा के प्रति व्यवहार) वाले अध्याय में आचार्य कौटिल्य ने कहा है कि यदि पराजित राजा विजेता को नाराज करता है तो विजिगीषु को चाहिए कि वह ऐसे अवसर पर वही आक्रमण करे जहां युद्ध के लिए सुन्दर मैदान हो, ऋतु और समय अनुकूल हो, खाद्य पदार्थो की सुविधा हो, दुर्ग और बाहर निकलने के मार्गो का अभाव हो तथा शत्रु के पार्ष्णिग्राह ओर उसके मित्रबल का भी अभाव हो। यदि स्थिति इसके विपरीत हो तो इन सब विपर्ययों का प्रतिकार करके ही आक्रमण करना चाहिए। दुर्बल राजा को साम और दाम से और बलवान राजाओं को भेद एवं दण्ड के द्वारा ही अपने अधीन करना चाहिए। नियोग, विकल्प और समुच्चय द्वारा शत्रु प्रकृति ओर मित्र प्रकृति को अपने वश में करना चाहिए। साम आदि चारों उपायों में से जब किसी एक उपाय का प्रयोग किया जाता है तब उसके निर्धारण का नाम नियोग है, इस प्रकार का प्रयोग किया जाय या किसी दूसरे का, ऐसे ज्ञान को विकल्प कहते हैं और विभिन्न उपायों के एकीकरण को समुच्चय कहते हैं। [2]

---

1. मनुस्मृति, 7/198
2. अर्थशास्त्र, 7/121/16

विभिन्न प्रकार के युद्ध :-

युद्ध करने की प्रणाली के अनुसार विभिन्न विद्वानों ने युद्ध को कई भागों में बाट कर उल्लेख किया है । कौटिल्य ने राजाओं को धर्म, लोभ एवं असुर विजयी की संज्ञा दी है[1] जिसके आधार पर उन्होने युद्ध को तीन भागों में बांटा है । 2

(1) प्रकाश युद्ध –

जहां देश और काल को निश्चित करके युद्ध घोषित किया जाता था ।

(2) कूटयुद्ध –

जिसमें थोड़ी सी सेना दिखाकर शत्रु को धोखा देकर भय उत्पन्न करना, दुर्गो को गिराना, लूटना, आग लगा देना, प्रमाद या व्यसन के समय आक्रमण करना, एक स्थान पर युद्ध बन्द कर दूसरी ओर धोखे से मार–काट करना ।

(3) तूष्णी युद्ध –

जिसमें गुप्तचरों द्वारा धोखे से विश औषधि आदि का प्रयोग किया जाय अथवा बहका कर शत्रु का वध किया जाये ।

शुक्र ने भी तीन प्रकार के युद्धों का वर्णन किया है ।[3]प्रथम वैदिक युद्ध, जिसमें शत्रु के विनाश हेतु मंत्रों से प्रेरित महा शक्तिशाली वाण आदि के द्वारा युद्ध किया जाता है । इसी को मांत्रिक अथवा मंत्र युद्ध भी कहते हैं और इसे ही सर्वोत्तम माना गया है । दूसरा, आसुर युद्ध जहां नालिक (नालदार) अस्त्रों में बारूद भर लक्ष्य पर गोली या गोले मारे जाते हैं । इसे मध्यम युद्ध कहा गया है ।

---

1. अर्थशास्त्र, 12/1
2. वही, 7/6/21
3. शुक्रनीति 4/1158–62, 1180

तीसरा, मानव युद्ध– जिसके दो भेद होते हैं :–

(1) शस्त्र युद्ध –

जिसमें सैनिकों की भुजाओं के बल से शस्त्र चलाकर युद्ध किया जाता है ।

(2) बाहुयुद्ध –

जहां उलट–पलट कर ओर शत्रु को आघात पहुंचा कर शत्रु का युक्ति से हनन किया जाय इन्हें क्रमशः कनिष्ठ और अधम कहा गया है । शुक्रनीति में यह भी स्पष्ट किया गया है कि धर्मशास्त्र प्रणेताओं द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार जब युद्ध होता है तो उसे धर्मयुद्ध कहा जाता है और जिस युद्ध में इन नियमों को भंग कर दिया जाता था तो उसे कूट युद्ध कहा जाता था ।

महाभारत में धर्मयुद्ध पर बल दिया गया है और कहा गया है कि राजा अधर्म युद्ध से जय की इच्छा न करे । धनुर्वेद में शस्त्रों के प्रयोग के आधार पर युद्धों को सात भागों में बांटा गया है, जिसमें (1) धनुष युद्ध, (2) चक्रयुद्ध, (3) कुन्तयुद्ध, (4) खड्गयुद्ध, (5) क्षुरिकायुद्ध (6) गदायुद्ध तथा (7) बाहुयुद्ध । [1]युद्ध के दो रूप पाये जाते हैं । एक मैदानी युद्ध तथा दूसरा दुर्ग युद्ध ।

मैदानी युद्ध

युद्ध क्षेत्र का चुनाव :–

प्राचीनकाल में प्रायः यह देखा गया है कि युद्ध पूर्व नियोजित एवं घोषित तिथि पर एवं सुनिश्चित स्थल पर ही लड़ा जाता था । इस तरह यह कहा जा सकता है कि प्राचीन आचार्य नैतिकता का पालन युद्धस्थल में भी करते थे । कौटिल्य ने युद्धस्थल को छावनी से 500 धनुष दूर होना बताया है । [2]

---

1. मेजर आर0सी0 कुंलश्रेष्ठ : एन इन्ट्रो डक्शन टू धनुर्वेदी, पृ0– 2
2. अर्थशास्त्र, 10/155–157/5×1

उन्होंने आगे यह भी कहा है कि भूमि के अनुसार छावनी की दूरी इससे ज्यादा और कम भी की जा सकती है । शुक्र ने युद्धक्षेत्र को तीन भागों में विभाजित किया है । पहला उत्तम बताया है उनके विचार से जो भूमि शत्रु के हित में न होकर मात्र अपने लिए हितकारी हो वह उत्तम है । दूसरा मध्यम– यदि युद्धक्षेत्र दोनों तरफ के लिए समान रूप से हितकारी हो । तीसरा – अधम, जब युद्धक्षेत्र शत्रु पक्ष के लिए हितकारी हो और अपने लिए अनुपयुक्त हो तो अधम युद्धक्षेत्र या स्थल कहा जाता है ।[1] कौटिल्य ने इस मत को अपने अर्थशास्त्र द्वारा प्रतिपादित किया है ।[2] अग्निपुराण के अनुसार युद्ध जंगल एवं नदी युक्त प्रदेश में करना चाहिए । झाड़रहित प्रदेश युद्ध के लिए अनुपयुक्त होता है ।[3] अधिकांश लोग इस बात को मानते हैं कि चतुरंगिणी सेना में जिस सेना की अधिकता हो उसके अनुसार सैन्य कार्यवाही के लिए युद्धक्षेत्र का चुनाव करना चाहिए ।[4]

समरतांत्रिक फैलाव :–

आचार्य कौटिल्य [5] ने समरतांत्रिक फैलाव पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि –

(1) पैदल सेना के प्रत्येक सिपाही को एक–एक शम (चौदम अंगुल) के फासले पर खड़ा किया जाय । इसी प्रकार घुडसवार सिपाहियों को तीन–तीन शम के फासले पर ओर रथारोहियों तथा हस्त्ययारोहियों को पांच–पांच शम के अन्तर पर खड़ा किया जाय, अथवा भूमि की सुविधानुसार ही उनका फासला कम या ज्यादा किया जाय । ऐसी व्यूह रचना करके निर्भीक होकर युद्ध लड़ा जाय ।

---

1. शुक्रनीति, 4/1060–1062
2. अर्थशास्त्र, 9/1/21
3. अग्निपुराण 236/59, 60
4. मनुस्मृति, 7/192
5. अर्थशास्त्र, 10/155–157/5

(2) पांच अरत्नि (हांथ) का एक धनुष होता है । धनुर्धारी योद्धाओं को पांच हाथ के फासले पर खड़ा किया जाय । तीन धनुष (पन्द्रह हाथ) के फासले पर रथारोहियों एवं हस्त्यारोहियों को खड़ा किया जाय । पक्ष (आगे बगल में खड़े होकर लड़ने वाली), कक्ष (आगे अवांतर भाग में खड़े होकर लड़ने वाली) और अरस्य (बीच में खडे होकर लड़ने वाली) पांचों सेनाओं को पांच–पांच धनुष को फासले पर खड़ा किया जाय ।

(3) घुड़सवार सैनिक के आगे–आगे सहायतार्थ तीन प्रतियोहार्थ को नियुक्त किया जाय । इसी प्रकार रथारोहियों या हस्त्यारोहियों के आगे पन्द्रह–पन्द्रह प्रतियोद्धाओं अथवा पांच–पांच घुड़सवार सैनिकों को खड़ा किया जाय । हस्ति अथवा अश्व के सैनिकों के उतने ही (पांच) खिदमतगार नियुक्त किये जाय । इसी प्रकार एक–एक रथ के आगे पांच घोड़े और एक–एक घोड़े के आगे तीन–तीन आदमी मिलाकर कुल पन्द्रह प्रतियोद्धा आगे चलने वाले और पांच सईस, उसी तरह हाथी के साथ भी चलने चाहिए ।

(4) व्यूह रचना के मध्य भाग (उरस्य) में इस प्रकार के नौ रथों (3×3 = 9) की नियुक्ति करनी चाहिए । अर्थात तीन–तीन रथों की एक–एक पंक्ति बनाकर, तीन पंक्तियों में नौ रथों को खड़ा किया जाय । इसी प्रकार कक्ष और पक्ष स्थानों में दोनों और नौ–नौ रथों को खड़ा किया जाय इस तरह एक व्यूह रचना में (9 उरस्य, 18 कक्ष और 18 पक्ष = 45 पैंतालीस रथ हो जाते हैं) ।

(5) प्रत्येक रथ के आगे पांच–पांच घोड़े होने के कारण पैतालिस रथों के आगे दो सौ पच्चीस घोड़े होने चाहिए । इसी प्रकार प्रत्येक रथ के आगे पन्द्रह सैनिक होने के कारण पैंतालिस रथों के आगे छः सौ पचहत्तर सैनिक एक दूसरे की सहायतार्थ युक्त होने चाहिए । घोड़े, रथ और हाथियों के उतने ही साईस भी होने चाहिए ।

(6) इस ढंग से तैयार किया व्यूह समयुद्ध कहलाता है । ऐसे व्यूह में दो दो रथ बढ़ाकर इक्कीस रथों तक की वृद्धि की जा सकती है । इस प्रकार के अयुग्म में तीन रथों से लेकर इक्कीस रथों तक दस तरह की समव्यूह रचना की जा सकती है ।

(7) आगे–पीछे और बीच के स्थानों में यदि रथों की विषम संख्या हो जाय तो उसको विषमव्यूह कहते हैं । ऐसे व्यूह मे भी उक्त रीति से दो–दो रथ बढ़ाकर इक्कीस रथों तक की वृद्धि कर अयुग्म रूप से दस विषम व्यूहों की रचना की जा सकती है ।

(8) इस प्रकार की व्यूह रचना करने के बाद जो सेना बची रह जाय उसको भी व्यूह के भीतर इधर–उधर नियुक्त कर देना चाहिए । उस बची हुई सना का दो–तिहाई भाग तो आगे–पीछे और बाकी एक हिस्सा बीच मे रख देना चाहिए । रथ सैन्य में यदि कुछ बचे हुए रथ बाद में मिलाने पड़ जाय तो उनकी संख्या व्यूह की सेना से एक तिहाई कम होनी चाहिए । इसी तरह बचे हुए हाथी और घोड़ों को मिलाने के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए ।

(9) जबतक युद्धकाल में घोड़े, रथ और हाथियों की पर्याप्त भीड़ न हो जाय तबतक उनमें बची हुई सेना को मिलाते रहना चाहिए ।

(10) व्यूह रचना के बाद बची हुई सेना को फिर से व्यूह में मिला लेने की कार्यवाही को अवाय कहते हैं । इस प्रकार केवल पैदलसेना की मिलाई जाय तो उसे प्रत्यावाय कहते हैं । घोड़े, रथ या हाथी, इन तीनों में से किसी एक बचे हुए अग को व्यूह रचना के बाद उसमें मिला देने को अन्वावाय कहते हैं । इसी प्रकार राजद्रोही सैनिकों के द्वारा व्यूह सेना बढ़ाये जाने का नाम अत्यावश्यक है ।

(11) विजिगीषु को चाहिए कि वह शत्रु सेना की अपेक्षा चौगुने से लेकर अठगुने तक अपनी सेना में सैनिकों का अवाय करे, अथवा अपनी शक्ति के अनुसार अवाय द्वारा ही सेना को बढ़ाये ।

(12) रथों की उक्त व्यूह रचना के अनुसार ही हाथियों की व्यूह रचना भी समझ लेना चाहिए अथवा हाथी, रथ और घोड़ों को मिलाकर इस प्रकार की व्यूह रचना की जानी चाहिए । सेना के सामने दोनों और हाथियों को खड़ा कर दिया जाय, पीछे के दोनों हिस्सों में बढ़िया घोड़ों को खड़ा किया जाय, और बीच में रथों को खड़ा किया जाय । इसी वयूह रचना का एक दूसरा ढंग यह भी है कि मध्य में हाथी,

पीछे की ओर रथ और आगे की ओर घोड़े खड़े किये जायें । इस व्यूह रचना में हाथियों को मध्य भाग में रखने के कारण मध्य–भेदी कहते हैं । इसके विपरीत पीछे हाथी, बीच में घोड़े और आगे रथों की व्यूह–रचना को अन्तभेदी कहते हैं ।

(13) केवल हाथियों द्वारा की गयी व्यूह रचना को युद्ध कहते हैं । ऐसे व्यूह में युद्ध योग्य हाथियों को बीच में रखा जाय ओर जो उन्मत्त एवं दुष्ट स्वभाव के हों उन्हें आगे के दोनों भागों में नियुक्त किया जाय ।

(14) घोड़ों को शुद्ध व्यूह में कवचधारी घोड़ों के बीच में और कवचरहित घोड़ों के आगे पीछे रखना चाहिए ।

(15) इसी प्रकार पैदल सेना के शुद्ध व्यूह में कवचधारी सैनिकों को आगे के दोनों भागों में और धनुर्धारी सैनिकों को पीछे के दोनों भागों में खड़ा किया जाय ।

(16) मिश्र व्यूहों में सेना के दो–दो भागों (अगों) को मिलाकर पैदल सिपाहियों को आगे के दोनों भागों में और घोड़ों को पीछे के दोनों भागों में रखा जाय, अथवा हाथियों के पीछे की ओर और रथों को आगे की ओर नियुक्त किया जाय या शत्रु की व्यूह रचना के वैपरीत्य में जैसा भी उचित हो वैसा किया जाय । इस प्रकार सेना के दो अंगों द्वारा इस प्रकार की व्यूह रचना की जा सकती है और इसी प्रकार सेना के तीन अंगों को लेकर व्यूह रचना का विभाग किया जा सकता है ।

(17) इस प्रकार विजिगीषु राजा को अयुग्म तथा युग्म व्यूहों की रचना करनी चाहिए । अपने हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल अंगों के अनुसार ही अपने व्यूहों की रचना करनी चाहिए ।

(18) राजा को चाहिए कि युद्ध आरम्भ हो जाने पर वह युद्धिभूमि से दो सौ धनुष की दूरी पर ठहरे । ऐसी स्थिति में वह शत्रु द्वारा छिन्न–भिन्न अपनी सेना को फिर एकत्रित कर सकता है । इसलिए

सेना के पृष्ठभाग का आश्रय लिए बिना राजा को कदापि युद्ध न करना चाहिए ।

इसी प्रकार का विशद वर्णन रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, अग्निपुराण तथा शुक्रनीति में भी मिलता है । इस तरह व्यूहों की रचना भूमि की बनावट, शत्रु पक्ष की सैन्य शक्ति, अपनी सैन्य शक्ति तथा सुरक्षात्मक एवं आक्रमणात्मक योजना के आधार पर किया जाता था ।

आचार्य कौटिल्य, शुक्राचार्य ओर वृहस्पति के मतानुसार – आगे के दो हिस्से, बीच का एक हिस्सा और पीछे का एक हिस्सा – व्यूह के चार भाग शुक्राचार्य ने किया है । आगे का एक हिस्सा, पीछे दोनों ओर के दो–दो हिस्से, बीच का एक हिस्सा और पीछे का एक हिस्सा व्यूह के ये छः विभाग आचार्य वृहस्पति ने किये हैं ।

आचार्यो के मत से आगे, पीछे तथा बीच मे अलग–अलग खड़ी होने वाली सेनाओं के दण्ड, भोग, मण्डल और असंहत नामों से चार प्रकार के व्यूह हुआ करते हैं । ये व्यूह प्रकृतिव्यूह के नाम से कहे जाते हैं । उनमें से सेना को तिरछे में खड़ा करके जो व्यूह बनाया जाता है, उसे दण्डव्यूह कहते हैं ।

दोनों आचार्यो के उक्त चार और छः विभागों द्वारा लगातार कई बार धुमार डालकर जो व्यूह बनाया जाता है, उसे भोगव्यूह कहते हैं । शत्रु की ओर जाती हुई सेनाओं का चारों ओर से घिरकर आक्रमण करना मण्डलव्यूह कहलाता है । आक्रमण के लिए छोटी–छोटी सेनाओं को अलग–अलग टुकड़ियों में खड़ा करना असंहतव्यूह कहलाता है । [1]

कौटिल्य ने आगे यह भी लिखा है कि व्यूहों में थोड़ी हेर–फेर कर लेने के बाद उनके नामों में भी परिवर्तन आ जाता है । [2]

---

1. अर्थशास्त्र, 10/158–159/6/1,2
2. वही, 10/158–159/6/3,4,5,6

(1) दण्डव्यूह ::–

आगे, पीछे तथा बीच में समानरूप से नियुक्त सेनाओं के व्यूह को दण्डव्यूह कहते हैं । जब आगे के दोनों भागों से शत्रु पर आक्रमण किया जाता है तो उस दण्डव्यूह को प्रदरव्यूह कहते है । जब पीछे की सेना मुड़ कर शत्रु पर वार करे तो दण्डव्यूह की वह स्थिति दृढव्यूह के नाम से जानी जाती है । पीछे कीसेना जब बड़े वेग से शत्रु सेना के बीच में घुस जाय तब उस दृढकव्यूह को असह्यव्यूह कहते हैं । आगे–पीछे के उपयुक्त भागों पर सेना को रखकर जब मध्य भाग के द्वारा सेना पर आक्रमण किया जाता है तब उस व्यूह को श्येनव्यूह कहते हैं । इन चार व्यूहों के सर्वथा विपरीत व्यूहों का नाम है क्रमशः चाप, चापकुक्षि, प्रतिष्ठ और सुप्रतिष्ठ । जिस व्यूह के पिछले भाग चाप (धनुष) के समान हो वह संजयव्यूह कहलाता है । जब बीच में शत्रु पर आक्रमण करके उसके बीच प्रवेश कर दिया जाता हे, दण्डव्यूह की वह स्थिति "विजयव्यूह" कहलाती है । विजयव्यूह की अपेक्षा जिसके पिछले हिस्से दुगने बड़े हों वह विशाल विजय व्यूह कहलाता है । जिस व्यूह के अगला, दो पिछले और मध्य भाग, तीनों बराबर हों वह चमूमुख व्यूह कहलाता है । इसके विपरीत होने पर वही चमुमुख व्यूह आषास्य व्यूह कहलाता है । जिस व्यूह की सेना ऊंची होकर शत्रु सेना पर आक्रमण करती है उस दण्ड व्यूह को सूची व्यूह कहते हैं । जब आगे–पीछे और मध्य तीनों स्थानों में दो दण्डव्यूहों को तिरछा खड़ा किया जाय तब उसको वलय व्यूह कहते हैं । यदि इसी प्रकार चार दण्डव्यूहों को खड़ा कर दिया जाय तो उसको दुर्जय व्यूह कहते हैं ।

(2) भोग व्यूह –

आगे–पीछे आदि स्थानों के द्वारा विषम संख्या में रचा हुआ व्यूह भोग व्यूह कहलाता है । भोग व्यूह दो प्रकार का होता है । एक सर्पहारी और दूसरा गोमूत्रिका । जब उसका मध्य भाग दो भागों में बंटकर दण्डाकार दोनों ओर स्थित हो जाता है, उस स्थिति में उसको शकटव्यूह कहा जाता हे । इसके विपरीतावस्था मे वही व्यूह मकरव्यूह कहलाता है । हाथी, घोड़े और रथों से युक्त शकटव्यूह को पारिपतन्तक व्यूह कहते हैं ।

(3) **मण्डल व्यूह** –

जिस व्यूह में आगे–पीछे और बीच के सभी भाग एक साथ मिल जाय, उसको मण्डल व्यूह कहते हैं । जब चारों ओर से शत्रु पर आक्रमण किया जाय तब वही मण्डलव्यूह की स्थिति सर्वतोभद्रव्यूह कहलाता है और जब उस व्यूह में आठ सेनाएं मिलकर शत्रु पर आक्रमण करें तो वही व्यूह दुर्जयव्यूह कहलाता है ।

(4) **असंहत व्यूह** –

आगे–पीछे आदि की सेनाओं को तितर–बितर कर जो युद्ध किया जाता है उसे असंहतव्यूह कहते हैं । उसके दो प्रकार हैं । एक बज्र और दूसरा गोधा । जब आगे–पीछे की सभी सेनाओं को बज्र के आधार में खड़ा कर दिया जाता है तब उसे बज्रव्यूह और जब उन्हें गोह के आकार में खड़ा कर दिया जाता है तब उसे गोधाव्यूह कहते है । जबकि आगे के दोनों हिस्से, बीच का एक हिस्सा और अन्त का एक हिस्सा इन चार स्थानों में उक्त प्रकार से सेना को खड़ा कर दिया जाता है तब उस असंहत व्यूह को उद्यानकव्यूह या काकपक्षीव्यूह कहते हैं । जब आगे के दोनों हिस्सों और बीच के एक हिस्से में सेना को खड़ा कर दिया जाता है तब उस व्यूह को अर्द्धचन्द्रिका या कर्कटशृंगीव्यूह कहते हैं ।

उपरोक्त व्यूहों को किस स्थान पर रचा जाय कि वे ज्यादा से ज्यादा अपने पख के लिए लाभदायक तथा शत्रु पक्ष के लिए हानिकारक होंगे । इस प्रश्न का उत्तर देते हुए डा0 दिक्षितार ने लिखा है कि समतल भूमि पर दण्डव्यूह तथा मण्डलव्यूह की रचना करनी चाहिए । ऊबड़–खाबड़ भूमि पर भोग व्यूह तथा असंहत व्यूह की रचना करनी चाहिए । [1]

आचार्य कौटिल्य ने व्यूहों की रचना आक्रमणात्मक एवं सुरक्षात्मक दृष्टिकोण को रखकर किया था । उन्होने यह भी कहा है कि अगर कुशल सेनाध्यक्ष चाहे तो सुरक्षात्मक व्यूह को आक्रमणात्मक

---

1. दिक्षितार : वार इन एसियेन्ट इण्डिया पृ0– 268

रचना द्वारा तोड़ा जा सकता है । लेकिन उपरोक्त के लिए उसे व्यूह भेदन की जानकारी होनी चाहिए । इस दृष्टि को रखते हुए आचार्य कौटिल्य एक ऐसी व्यूहों की सूची तैयार की है जो एक दूसरे के विरोधी होते हैं ।[1]उन्होने लिखा है कि उक्त व्यूहों मे से प्रदर को दृढ़क से दृढ़क को असह्य से, श्येन को चाप से, प्रतिष्ठा को सुप्रतिष्ठ से, संजय को विजय से, स्थूलकर्ण को विशाल विजय से और परिपतंतक को सर्वतोभद्र से तोड़ा जाना चाहिए । दुर्जयव्यूह के द्वारा सभी व्यूहों को तोड़ा जा सकता है ।

विभिन्न प्रकार की सेनाओं को सही एवं समुचित ढंग से खड़ा करके आचार्य कौटिल्य ने व्यूहों को तीन भागों में बांट दिया है ।[2]अरिष्ट, अचल और अप्रतिहत । जिस व्यूह के मध्य में रथ, अन्त में घोड़े आदि में हाथी को, उसको अरिष्टव्यूह कहते हैं । जिस व्यूह में पैदल, हाथी, घोड़े और रथ एक दूसरे के पीछे हो उसे कचल व्यूह कहते हैं और जिस व्यूह में हाथी, घोड़े रथ तथा पैदल एक दूसरे के पीछे हों उसे अप्रतिहतव्यूह कहते हैं ।

व्यूहों की रचना पर शस्त्रास्त्रों ने भी अपना प्रभाव डाला है । क्योंकि जैसे–जैसे शस्त्रों का विकास होता गया युद्ध प्रणाली भी बदलती गयी और व्यूह रचना भी लगभग बदलती गयी । क्योंकि अग्निपुराण यह कहता है कि यदि शत्रु से सम्मुख का भय हो तो मकर या सूची व्यूह (दण्ड या भोग व्यूह) पीछे से भय हो तो शकटव्यूह (भोगव्यूह) तथा पार्श्व से भय हो तो वज्र व्यूह (असंहत व्यूह) और चारों ओर से भय हो तो चक्र या मण्डल व्यूह अपनाना चाहिए ।[3]अग्निपुराण द्वारा वर्णित इस प्रकार के व्यूहों को शुक्रनीति, मनुस्मृति तथा महाभारत भी मानते हैं । [4]

---

1. अर्थशास्त्र, 10/158–159/6/9
2. अर्थशास्त्र, 10/158–159/6/6,7,8
3. अग्निपुराण, 242/35
4. शुक्रनीति, 4/1104–1115
   मनुस्मृति, 7
   महाभारत, भीश्मपर्व, 19/20/48/50/51/52/56/88/100
   द्रोणपर्व, 7
   कर्णपर्व, 9/58

प्राय: ऐसा देखा जाता है कि जब कभी घमासान युद्ध शुरू हो जाता है तब व्यूह रचनाएं लगभग छिन्न–भिन्न अवस्था में हो जाती हैं और उस स्थिति में किसी भी प्रकार की व्यूह रचना करना सम्भव नहीं रहता ।

यौद्धिक संक्रिया :–

युद्ध हेतु उपयुक्त युद्ध क्षेत्र का चुनाव कर लेने, शत्रु पक्ष की सेना की जानकारी हो जाने, अपने को बलवान एवं वृहद सैन्य युक्त हो जाने, शत्रु पक्ष को फोड़ने में समर्थ और युद्ध योग्य समय को अपने अनुकूल बनाने एवं मौसम आदि के आधार पर विचार पूर्ण व्यूह का निर्माण करने या आक्रमण के लिए योजना बनाने के बाद ही वास्तविक यौद्धिक संक्रिया सम्भव होती है । आचार्य कौटिल्य ने तो यहां तक कहा है कि जब सारी परिस्थितियां अपने अनुकूल हो युद्ध भूमि भी अपने अनुकूल हो तब कहीं प्रकाश युद्ध किया जाय । [1]

आचार्य कौटिल्य ने आक्रमणात्मक कार्यवाही के लिए लिखा है कि –

(1) व्यसनापन्न सेना पर या लम्बे सफर, जंगल के सफर अथवा जलाभाव की अवस्था में शत्रु के उपर आक्रमण किया जाय । अथवा शत्रु के विरूद्ध स्थिति और अपनी अनुकूल स्थिति होने पर आक्रमण करें ।

(2) शत्रु की अमात्य आदि प्रकृतियों के वश में करके तब आक्रमण किया जाय ।

(3) राजद्रोहियों, शत्रुओं और जंगलिकों को अपनी पराजय का विश्वास दिलाकर जब वे अपना स्थान छोड़ दें तब उन पर आक्रमण किया जाय ।

(4) अनुकूल भूमि में एक स्थान पर ठहरी हुई सेना को हाथियों द्वारा छिन्न–भिन्न किया जाय ।

---

1. अर्थशास्त्र, 10/150–152/3/1

(5) पूर्व पराजय के कारण तितर–बितर हुई शत्रु की सेना को विजिगीषु की एकत्र सेना लौटकर फिर मारे ।

(6) सामने की ओर से आक्रमण करने के कारण तितर–बितर अथवा भागी हुई शत्रु सेना को पीछे की ओर से घुड़सवारों और हाथियों के द्वारा नष्ट करा दिया जाय ।

(7) पीछे की ओर से आक्रमण करने के कारण छिन्न–भिन्न या उलटी भागी हुई शत्रु सेना को सामने की ओर से बहादुर सैनिकों द्वारा नष्ट–भ्रष्ट कर देना चाहिए ।

(8) आगे–पीछे से किये गये आक्रमणों के अनुसार ही अगल–बगल से किये जाने वाले आक्रमणों के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए ।

(9) जिस ओर शत्रु की राजद्रोही या निर्बल सेना हो उसी ओर से आक्रमण करना चाहिए ।

(10) यदि सामने की ओर से आक्रमण करना अपनी सेना के लिए अनुकूल न हो तो पीछे की ओर से आक्रमण करना चाहिए ।

(11) अगल–बगल के आक्रमण में जिस ओर से सुविधा हो उसी ओर से आक्रमण करना चाहिए । [1]

(12) आगे, पीछे और बीच में वयूह की यथोचित रचना करे तदनन्तर सेना को एक अंग द्वारा या दो अंगों द्वारा शत्रु पर आक्रमण करना चाहिए । और सेना के बाकी अंगों से शत्रु के आक्रमण को रोकना चाहिए ।

(13) शत्रु की दुर्बल, हाथी, घोड़ों से रहित, राजद्रोही अमात्यों से युक्त भेद डाली हुई सेना को सारभूत सेना के द्वारा नष्ट कर डालना चाहिए ओर शत्रु की सारभूत सेना को अपनी दुगुनी सारभूत सेना के द्वारा नष्ट कर देना चाहिए ।

(14) अपनी सेना को निर्बल अंग की सहायता के लिए अधिक सेना की नियुक्ति की जानी चहिए ।

---

1. अर्थशास्त्र, 10/150–152/3/2,3,4,5

(15) शत्रु सेना का जो निर्बल क्षोर हो उसी ओर आक्रमण करना चाहिए या जिस ओर से अपने ऊपर आक्रमण का भय हो उधर से ही व्यूह रचना करनी चाहिये ।

(16) अभिसृत (अपनी सेना की ओर से शत्रु सेना की ओर जाना) करना चहिए ।

(17) परिसृत (शत्रु की सेना पर चारों तरफ से घूमकर प्रहार करना) करना चहिए ।

(18) अतिसृत (शत्रु सेना के बीच में सुई की तरह बेध कर निकल जाना) करना चाहिए ।

(19) अपसृत (उसी मार्ग से दुबारा निकलना) करना चाहिए ।

(20) गोमूत्रिका (बहुत से घोड़ों के द्वारा शत्रु सेना पर मंथन करके फिर एकत्र हो जाना, दो तरफ से सुई के समान मार्ग बनाकर जान, गोमूत्र के समान टेढ़ी गति से जाना) आदि कार्यवाही करनी चाहिए ।

(21) मंडल (शत्रु सेना के बीच से निकल कर उसे घेर लेना) करना चाहिये ।

(22) प्रकीर्णिका (सभी प्रकार की चालों का प्रयोग करना) करना चाहिए ।

(23) अनुवंश (शत्रु सेना के सामने गयी हुई अपनी सेना का अनुगमन) करना चाहिए ।

(24) भग्नानुपात (छिन्न-भिन्न हुई शत्रु सेना का पीछा करना) करना चाहिए । इस प्रकार की कार्यवाही अश्वों द्वारा होती है ।[1]

(25) आचार्य कौटिल्य ने दृष्टि युद्ध के बारे में लिखा है कि घोड़ों की प्रकीर्णिका गति को छोड़कर शेष सभी युद्ध, बिखरे हुए या इकट्ठा हुए सेना के चारों अंगों का हनन करना चाहिए । आगे, पीछे तथा मध्य में खड़ी हुई सेना को नष्ट करना, शत्रु सेना की निर्बलता पर प्रहार करना और सोती हुई शत्रु सेना को मरवा देना आदि कार्य हस्तियुद्ध कहलाता है ।[2]

---

1. अर्थशास्त्र, 10/155–157/5/23,24
2. अर्थशास्त्र, 10/155–157/5/25

(26) अनुकूल भूमि में रहकर शत्रु पर आक्रमण करना शत्रुसेना को पराजित कर भाग जाना, सुरक्षित शत्रु सेना को चारों ओर घेरा डालकर उससे युद्ध करना रथ युद्ध कहलाता है ।[1]

(27) हर समय तथा हर स्थान में हथियारों को धारण करना और चुपचाप शत्रु सेना को नष्ट करना, ये सब पदाति युद्ध हैं ।[2]

युद्ध क्षेत्र में सैनिकों का विभिन्न दल इस प्रकार खड़ा होता था कि वह अपने शस्त्रास्त्रों का प्रयोग स्वतंत्र रूप से कर सकें ।[3] कुरूक्षेत्र, मत्सय, पंचाल तथा शूरसेन नामक स्थानों के सैनिक सबसे आगे लड़ते थे ।[4] प्रायः यह देखा गया कि शत्रु की सेना के अनुसार अपनी व्यूह रचना बनायी जाती थी । साथ ही यदि अपनी सेना कम होती थी तो एक साथ संगठित होकर अगर सेना अधिक होती थी तो सेना फैलाकर लड़ी जाती थी । अग्निपुराण तो आरक्षित सेना के बारे में भी बताता है । शुक्र ने भी तोप तथा छोटे नाल से युक्त बन्दूकों को आगे, उसके पीछे पैदल अगल-बगल हाथी तथा घोड़ों को रखने के लिए बताया है, बाद में अमात्य के अधीन सेना सबसे पीछे सुरक्षित सेना जो राजा के अधीन होती थी, जब कोई संकटकालीन स्थिति उत्पन्न होती थी तब ये युद्ध करते थे ।[5] डा० पी०सी० चक्रवर्ती ने लिखा है कि राजा को सबसे अन्त में वह भी अति आवश्यकता पड़ जाने के बाद युद्ध में भाग लेने के लिए इसलिए कहा गया है, क्योंकि भारत में यह देखा गया है कि राजा की मृत्यु के बाद सेना भाग खड़ी होती थी या शस्त्र त्याग देती थी । अतः युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक होता था कि राजा अन्तिम क्षण तक जीवित रहे, जिससे सेना में मनोबल बना रहे । प्राचीन भारतीय युद्धों में विपक्षी राजा अपना मुख्य उद्देश्य यही रखता था कि वह विपक्षी राजा को मार डाले या उसे मैदार से भगा दे ।[6] अग्निपुराण में भी बहादुर

---

1. अर्थशास्त्र, 10/155–157/5/26
2. अर्थशास्त्र, 10/155–157/5/27
3. अग्निपुराण 236/28–37
4. मनुस्मृति 7/192–193
5. शुक्रनीति, 4/1163, 1164, 1166, 1167
6. पी० सी० चक्रवर्ती, आर्ट आफ वार इन एसियेन्ट इण्डिया, प10– 119

सैनिक सबसे आगे, उसके बाद धनुर्धारी तदुपरान्त अश्व, रथ और अन्त में गज सैनिक होते थे, ध्वजारोही राजा के साथ सबसे पीछे होते थे। जो सेना को उत्साहित करते रहते थे।[1] पार्श्व से सैनिक गति करते थे। योग्य सेना नायक शत्रु के पृष्ठभाग पर आक्रमण करते थे।

उपरोक्त विवरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल मे यौद्धिक संक्रिया लगभग उन सारे पहलुओं से होकर गुजरती थी जो आधुनिक परिवेश में प्रयोग किया जाता है।

2. दुर्ग युद्ध –

प्राचीन भारत में राज्य की स्वतंत्रता बनाये रखने और उसकी शक्ति को बढ़ाने का एक अत्यधिक महत्वकपूर्ण उपाय दुर्ग निर्माण था। इसी कारण दुर्ग को राज्य के सात अंगों में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वैदिक काल में भी दुर्ग पाये जाते थे, ऋगवेद में सूर्य से सुखाई ईटों व पत्थरों के दुर्ग का वर्णन है और यह भी कि वे आकार में बहुत बड़े होते थे जैसा कि इस बात से पता चलता था कि दुर्ग शतुभुजी अर्थात 100 दीवार वाला होता था।[2] संहिताओं और ब्राम्हणों में दुर्ग के घिरने का उल्लेख है। समय बीतने के साथ दुर्गो के निर्माण हेतु नियम बनाने की आवश्यकता अनुभव हुई होगी। महाभारत तथा रामायण काल में भी दुर्गो का विस्तृत वर्णन मिलता है। दुर्ग निर्माण प्रथा तो अंग्रेजों के काल तक दिखाई पड़ती है। क्योंकि दुर्गो एवं किलों का अवशेष अब तक इस बात को प्रमाणित करते हैं।

मनुस्मृति [3] में शाही किलों का वर्णन मिलता है। दुर्ग छः प्रकार के बताये गये हैं। रामायण में विभिन्न प्रकारके दुर्गो और उनके भीतर सामाग्री का वर्णन मिलता है। उसमें चार प्रकार के दुर्ग बताये गये हैं।

---

1. अग्निपुराण, 236/28–37
2. रामगोविन्द त्रिवेदी, हिन्दी ऋगवेद, 320–8,9
3. मनुस्मृति, 7/70–71

(1) समुद्र तथा नदी से घिरे हुए – नादेय, जैसे लंका में था ।

(2) पहाड़ियों से घिरा हुआ जैसे किष्किन्धा में था ।

(3) जो जंगलों से घिरा होता था ऐसे भी लंका में थे और

(4) जो कृत्रिम प्रतिरक्षा साधनों से घिरे होते थे जैसा अयोध्या में था ।[1]

महाभारत के शान्तिपर्व मे युधिष्ठिर को दुर्ग सम्पन्न पुर के विषय में यह उपदेश दिया गया है कि उसके दृढ़ प्रकार और खाई हों, उसमें धान्य और आयुध (हथियार) हों तथा हाथी, घोड़े और रथ बहुत हों । दुर्ग छः प्रकार के बताये गये हैं – धन्यदुर्ग, महीदुर्ग, गिरिदुर्ग, मनुष्यदुर्ग, मुदृदुर्ग, वनदुर्ग, ।

कौटिल्य ने दुर्ग विधान के विषय में बताया है कि जनपद की सीमा की चारों दिशाओं में युद्धोपयोगी, स्वाभाविक बीहड स्थानों को ही दुर्ग बनवा लेना चाहिए । स्वाभाविक दुर्ग चार प्रकार के होते हैं –

(1) **औदक** – चारों ओर पानी से घिरा हुआ टापू के समान या बड़े–बड़े गहरे तालाबों से घिरा हुआ ।

(2) **पार्वत** – बड़ी–बड़ी चट्टानों अथवा अंधेरी गुफाओं के रूप में बना हुआ ।

(3) **धान्वन** – जल, घास, वृक्ष इन सबसे रहित एकदम ऊसर भूमि में बना हुआ ।

(4) **वन दुर्ग** – चारों ओर दलदल से घिरा हुआ अथवा कांटेदार सघन झाड़ियों से युक्त ।

इन दुर्गो में से नदी दुर्ग और पर्वत दुर्ग आपत्तिकाल में जनपद की रक्षा के उपयोग में आते हैं । धान्वन ओर वन दुर्ग अरण्यों में रक्षकों की रक्षा के लिए उपयोगी होते हैं । अवसर पड़ने पर राजा भी भागकर इन दुर्गो में अपनी रक्षा कर सकता है ।[2] दुर्ग निर्माण का मूल कारण शत्रु सेना से सुरक्षा था । मनु

---

1. रामायण, युद्धकाण्ड, अध्याय 3
2. अर्थशास्त्र, 5/3

ने इस पर अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि दुर्ग शत्रु राज्य की रक्षा का प्रमुख आधार है ।[1] याज्ञवल्क्य में कहा गया है कि यह राज्य को सुरक्षा प्रदान करता है, साथ ही प्रजा, सम्पत्ति एवं मित्र राष्ट्रों को आश्रय भी देता है । आक्रामक सेनाओं को रूकावट भी करता है ।[2]आचार्य कौटिल्य एवं वृहस्पति ने भी ऐसा ही मत दिया है ।[3] मनु ने दुर्ग के सैनिक महत्व को समझाकर लिखा है कि दुर्ग परिणा पर लड़ा एक धनुर्धारी सैनिकों का मुकाबला कर सकता है । और एक सौ धनुर्धारी दस हजार सैनिकों का मुकाबला कर सकता है । [4] आचार्य शुक्र [5] ने इस मत की पुष्टि की है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अगर राजा के पास सुदृढ़ दुर्ग व्यवस्था हो तो वह शक्तिशाली राज्य को एक बार साहसहीन कर सकता है । इस तरह प्राचीन भारत में सुरक्षात्मक लड़ाई को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता था ।

दुर्ग प्रकरण में शुक्र ने कई प्रकार के दुर्ग की व्याख्या की है । जिस दुर्ग में खाइयों, कांटों और पत्थरों से मार्ग कठिन बना दिया गया हो और जो उसर से बना हो वह दुर्ग एरिण कहलाता है । जिसके चारों ओर गहरी खाइयां हों वह परिखा कहलाता है । जिसका परिकोटा ईंट पत्थर या मिट्टी का हो वह पारिघ कहलाता है ओर जो महाकंटीले वृक्षों से घिरा हो उसे वन दुर्ग कहते हैं । जो जल के स्थान से बहुत ऊंचे पर बना हो वह गिरि दुर्ग कहलाता है । जो अभेध हो और जहां व्यूह रचना जानने वाले शूरवीर रहते हों उसे सैन्य दुर्ग कहते हैं जिसमें शूरवीरों के अनुकूल बन्धुजन रहते हों, वह सहाय दुर्ग कहलाता है । पारिख से एरिण, एरिण से पारिघ और पारिघ से वन दुर्ग श्रेष्ठ है । सहाय दुर्ग और सैन्य दुर्ग सब दुर्गों के साधन हैं । इनके बिना सब दुर्ग व्यर्थ है । पण्डित सभी दुर्गों में सैन्य दुर्ग को ही श्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि इसके बिना सब दुर्ग व्यर्थ हैं । [6]

---

1. मनुस्मृति, 9/294
2. याज्ञवल्क्य, 1/321
3. वृहस्पति, 1/1/28
4. मनुसमृति, 7/74
5. शुक्रनीति, 4/859
6. शुक्रनीति, 4/850–58

दुर्ग का घेरा तथा यौद्धिक संक्रिया – 1

शत्रु के दुर्ग को अपने घेरे में लेने के लिए आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि विजिगीषु राजा को निम्नांकित कार्यवाही करनी चाहिए –

(1) विजिगीषु को चाहिए कि वह शत्रु के कोष, सैन्य और अमात्य आदि का नाश करने के साथ ही उसके दुर्ग को चारों ओर से घेर लें। किन्तु ऐसी स्थिति में विजिगीषु को ध्यान रखना चाहिए कि जनपद को किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे, वरन उसकी रक्षा का सुप्रबन्ध करे। यदि जनपद विजिगीषु के विरूद्ध आन्दोलन करे तो उसे धन देकर या कर माफ करके शान्त किया जाय। किन्तु ऐसा यत्न उसी दशा में करना चाहिए जब जनपद अपने स्थान पर बने रहें, अन्यथा उसकी कुछ भी सहायता न की जाय। उस जनपद के विभिन्न भागों में अधिकाधिक आदमियों को बसाया जाय अथवा एक ही भाग में अधिक आदमियों को बसाया जाय, क्योंकि मनुष्यों से रहित प्रदेश जनपद नहीं कहला सकता ओर जनपदरहित भूमि राज्य नहीं कहला सकती। इसीलिए कौटिल्य का कहना है कि यदि जनपद न होगा तो राज्य किस पर किया जायेगा।

(2) विजिगीषु को चाहिए कि वह विपत्तिग्रस्त शत्रु के अन्न, फसल, वीवध और प्रसार आदि सबको नष्ट कर दे।

(3) वीवध, प्रसार आदि का उच्छेद कर देने से तथा फसल, अनाज, व्यापार आदि को नष्ट कर देने से और अमात्य आदि प्रकृति वर्ग कहीं दूसरी जगह ले जाने से या चुपचाप उन्हें मार देने से राजा का अपने आप क्षय हो जाता है।

---

1. अर्थशास्त्र, 13/174–185/4

(4) जब विजिगीषु यह समझे कि प्रभूत गुणों से सम्पन्न धान्य, लोहा, तांबा वस्त्र, मशीन, हथियार, कवच, श्रमिक और रस्सी आद सभी उपयोगी सामाग्री से अपनी सेना युक्त है और ऋतु भी अपने अनुकूल है, किन्तु शत्रु का देश बीमारी, दुर्भिक्ष से अभिभूत, धनधान्य तथा रक्षक पुरूषों से अभावग्रस्त, उसको वेतनभोगी सेना सहायता देने से इन्कार करती हो, मित्र सेना भी खिन्न हो चुकी हो और ऋतु भी उसके प्रतिकूल हो, ऐसी अवस्था में वह शत्रु के दुर्ग पर घेरा डाल दे ।

(5) शत्रु दुर्ग पर घेरा डालने के लिए विजिगीषु को चाहिए कि पहिले वह अपनी छावनी, वीवध, असार और अपने मार्ग की रक्षा करे, फिर खाई तथा परकोटे के अनुसार दुर्ग को चारों ओर से घेरा डाल दे, तदनन्तर शत्रु के पानी में विष मिला दे या बांध तोड़कर उसे बहा दे और अन्त में खाइयों को मिट्टी से पाटकर या किले की दीवारों या अटारियों पर सुरंग बनाकर दुर्ग पर आक्रमण कर दे ।

(6) दुर्ग की दरारों को कंकरीट से तथा नीची गहरी जगहों को मिट्टी से पाट दिया जाय । दुर्ग के जिस भाग में रक्षा का अधिक प्रबन्ध हो उसे मशीनों द्वारा नष्ट कर दिया जाय । कपट से रक्षक पुरूषों को बाहर निकाल कर घोड़ों तथा हाथियों द्वारा उन पर हमला बोल दिया जाय जब युद्ध क्षेत्र में शत्रु की सेना अधिक पराक्रमशील जान पड़े तो साम, दाम आदि उपायों के द्वारा या अवसर के अनुसार वैसा ही उपाय का प्रयोग करें या एक उपाय की जगह दूसरे उपाय को काम में लाकर अथवा अनेक उपायों को एक साथ उपयोग में लाकर दुर्गवासी शत्रु पर विजय लाभ की चेष्टा करनी चाहिए ।

(7) बाज, कौवा, नप्ता (मुर्ग के समान), गिद्ध, तोता, मैना, उल्लू और कबूतर आदि पक्षियों को पकड़कर उनकी पूंछ में आग लगाने वाली औषिधयों को मलकर उन्हें शत्रु के दुर्ग में छोड़ दिया जाय, जिससे कि वहां आग लग जाय ।

(8) शत्रु दुर्ग के बाहर नीचे की ओर खड़ी विजिगीषु की सेना को चाहिए कि वह अपनी छावनी से शत्रु के दुर्ग पर आग फेंकने के लिए ध्वज, धनुष–वाण उठाये हुए सैनिक मानुष अग्नि (मारे हुए आदमी की हड्डी को चितकबरे बांस के साथ रगड़ने से उत्पन्न हुई आग) के द्वारा शत्रु में आग लगा दें या पहरेदार ही इस कार्य को करें ।

(9) किले के अन्दर अन्तपाल या दुर्गपाल के वेश में रहने वाले गुप्तचरों को चाहिए कि नेवला, बन्दर, बिल्ली और कुत्ते की पूंछ में वे आग लगा देने वाली औषधियों को लगाकर उन्हें शत्रु के उन घरों में छोड़ दें, जहां दुर्ग रक्षा सम्बन्धी सामग्री रखी हो ।

(10) सूखी मछली के पेट मे या सूखे मांस के अन्दर आग लगा देने वाली औषधि (अनियोग) रखकर उसको पक्षियों को खिलाने के बहाने या पक्षियों के

(11) सरई (सरल), देवदारू, गलवनफशा (पूतितृण) गुगल, तारपीन (श्रीवेष्टक), कुल्लू की गोंद (सर्जरस) ओर लाख इन सब चीजों की गोलियां तथा गधा, ऊंट, बकरा, और मेढा, इनकी लीद इनके द्वारा आसानी से आग लगायी जा सकती है ।

(12) चिरौंजी (प्रियाल) का चूर्ण, बागची (अवलगू) का दरदरा चूर्ण, शहद तथा घोड़ा, गधा, ऊंट और बैल की लीद, इन सबको मिलाकर बनाया गया अग्नियोग आग लगाने के लिए उपयोगी है ।

(13) अग्निवर्ण लोहे के चूर्ण, नीम कुंभी, जस्ता, शीशा और रांगा का चूर्ण, नीम तथा पलाश पुष्प का चूर्ण, तेल, शहद तारपीन आदि वस्तुओं को एक साथ मिलाकर बनाया गया अग्नियोग निश्चय ही विश्वासघाती होता है । अर्थात जहां आग लगने की कतई सम्भावना न हो वहां भी इसका प्रयोग करने पर आग लग जाती है । अचूक अग्नियोग होने के कारण ही इसको विश्वासघाती कहा जाता है । उक्त सभी वस्तुओं के योग से सना हुआ और सन तथा

ककड़ी के बेल की छाल से लपेटा हुआ वाण भी अग्नियोग होता है । अर्थात जहां मारा जाता है वहीं आग लगा देता है ।

(14) युद्ध के प्रारम्भ में इन अग्नियों को नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि अग्नि का कोई विश्वास नहीं है ओर फिर उसे देवपीड़न कहा गया है । अग्नि दाह से असंख्य प्राणियों, धनधान्य पशु एवं अनेक प्रकार के द्रव्यों का नाश हो जाता है । ऐसा नष्ट–भ्रष्ट राज्य अपने हाथ में आ जाने पर क्षय का ही कारण होता है ।

उपयुक्त निरूपण शत्रु दुर्ग को घेरने के सम्बन्ध में किया गया है ।

यौद्धिक संक्रिया द्वारा शत्रु दुर्ग पर अधिकार जमाना :–

जब शत्रु दुर्ग पर अपना घेरा डाला जा चुका हो तथा आवश्यक कार्यवाही पूरी हो गयी हो और विजिगीषु सन्तुष्ट हो तब उसे यौद्धिक संक्रिया के लिए कदम उठाना चाहिए ।उसके आवश्यक कदम निम्न चरण में हो सकते हैं :–

1. जब विजिगीषु यह समझ ले कि वह सब प्रकार की युद्धोपयोगी सामाग्री से सम्पन्न है । सभी तरह के कार्य करने वाले आदमी उसके पास मौजूद हैं, उधर शत्रु व्याधिग्रस्त है ।उसकी प्रकृतियां धोखा देने वाली हैं, दुर्ग आदि की मरम्मत तथा धान्य आदि का संग्रह भी उसने नहीं किया है । मित्र की सहायता की भी सम्भावना नहीं है अथवा सहायता सम्भव होने पर भी अभी तक वह सन्धि करने में ही फंसा हुआ है । ऐसे शत्रु पर फौरन चढ़ाई कर देनी चाहिए ।

2. विजिगीषु जब देखे कि "शत्रु के दुर्ग में अपने आप आग लग गयी है या सब लोग पार्टियों अथवा उत्सवों में व्यस्त हैं या खेल, तमाशों तथा चांदमारी और अशक्त हैं या शराबियों ने कोई उपद्रव खड़ा कर दिया है या लगातार युद्ध करने की वजह से शत्रु सेना थक गयी है

या लम्बे युद्ध के कारण शत्रु के बहुत से आदमी जख्मी हो गये हैं या मर गये हैं या रात भर जागने तथा थक जाने के कारण लोग सोये हैं या आकाश में दुर्दिन छाया है या नदी में बाढ़ आ गयी है या भीषण तुषारापात हुआ है, ऐसी अवस्था में शत्रु पर एकदम धावा बोल देना चाहिए ।

3. छावनी या पड़ाव न डालकर जंगल में जाकर छिपा जाय और जैसे ही शत्रुदल जंगल से निकलने लगे, उसके ऊपर विजीगीषु की सेना एकदम बरस पड़े ।

4. मित्र के वेष में रहने वाला या मित्र की सेना में मुखिया के वेष में रहने वाले विजिगीषु के गुप्तचर को चाहिए कि वह घिरे हुए शत्रु राजा के साथ मित्रता करके अपने किसी बाह्य पुरूष के द्वारा उसके लिए इस आशय का एक सन्देश भेजे कि तुम्हारे अन्दर अमुक–अमुक दोष हैं, अमुक–अमुक व्यक्ति तुम्हारे द्रोही हैं । घेरा डालने वाले विजिगीषु क अमुक–अमुक कमजोरियां हैं और विजिगीषु के क्षूव्य, क्रुद्ध, भीत आदि अमुक–अमुक लोग तुम्हारे मित्र हैं । जब वह दूत शत्रु राजा का उत्तर लेकर लौट रहा हो तो विजिगीषु उसको रासते में ही पकड़कर उस पर अपकारी होने का दोष लगावे और इसी अपराध में उसको मार कर वहां से (उस उत्तर लेख पत्र को साथ लेकर) चला जाय । अथवा मित्र के वेश में या मित्र सेना के प्रमुख के वेष में रहने वाला वह गुप्तचर उस घिरे हुए राजा से कहे कि – "मेरी रक्षा के लिए तुम्हें तैयार हो जाना चाहिए अथवा हम दोनों मिलकर तुमको रोकने वाले विजिगीषु को मार डालें । जब वह इस प्रस्ताव को स्वीकार कर ले तो दोनों ओर से घेर कर उसको मार दिया जाय अथवा उसको गिरफतार कर उसकी जगह उसके किसी पुत्रबोधक को अभिषिक्त किया जाय या उसकी राजधानी को बरबाद कर दिया जाय अथवा उसके सारबल को दुर्ग से बाहर निकालकर उसको मरवा दिया जाय ।

5. दण्डोपन (बलपूर्वक वश में किये गये राजा) और आटविक (जंगली राजा) दोनों में से किसी एक द्वारा उस घिरे हुए शत्रु राजा के पास यह सन्देश भेजा जाय कि वह यह घेरा डालने वाला विजिगीषु आजकल व्याधिग्रस्त है, पार्ष्णिग्राह ने भी उस पर हमला कर दिया है, ऐसी स्थिति में वह यहां से अन्यत्र भाग जाने को तैयार है । जब घिरा हुआ शत्रु राजा इन बातों से सहमत हो जाय तब विजिगीषु अपनी छावनी में आग लगाकर वहां से चला जाय । उसके बाद पूर्ववत शत्रु राजा को बीच में घेर कर समाप्त कर दिया जाय ।

6. व्यापारियों के संघ द्वारा उपहार स्वरूप भेजे गये द्रव्यों में विष मिलाकर उन्हें किले में पहुंचा दिया जाय ।

7. मित्र सेना में प्रमुख अधिकारी के वेश में रहने वाला गुप्तचर घिरे हुए शत्रु राजा के पास इस प्रकार का सन्देश लेकर दूत को भेजे क "मैंने तुम्हारे इस बाह्य शत्रु को एकदम शक्तिहीन बना दिया है । अब इसको सर्वथा नष्ट करने के लिए तुम दुर्ग से बाहर निकल जाओ । अब शत्रु इस विश्वास पर बाहर निकल जाय तो उसे दोनों ओर से घेरकर पूर्ववत मार दिया जाय ।

8. अपने आपको मित्र का बन्धु बताकर, मुहर लगे लेखा पत्र को प्राप्त कर, गुप्तचर दुर्ग के भीतर प्रवेश कर वहां किसी तरह फाटक खोलवाकर दुर्ग को विजिगीशु के अधिकार में करदें

9. मित्र सेना के प्रमुख अधिकारी के वेष में राजा को धोखा देने के लिए यह सन्देश दिया जाय कि मैं अमुक स्थान पर अमुक राजा से लडूंगा । आप सहायता के लिए आमंत्रित हैं । जैसे ही शत्रु राजा सहायता करने के लिए निकले उसे बीच में ही समाप्त कर देना चाहिए ।

10. विजिगीषु अपने मित्र या आटविक को वहां बुलाकर उसको इस प्रकार उकसाए कि देखा, अच्छा मौका है, तुम इस घिरे हुए शत्रु पर आक्रमण करके उसके राज्य को हथिया लो । जब वह ऐसा करने के लिए राजी हो जाय तो युद्ध में उसके प्रकृतिवर्ग को या दूतवर्ग को

अपने अधीन कर उसको मरवा दिया जाय । या स्वयं ही विष आदि देकर उसको मार डालें बाद में इस शत्रु ने मेरे मित्र या आटविक को मार डाला है, ऐसी अफवाह फैला कर अपनी कार्यसिद्धि कर ले ।

11. मित्र के वेष में रहने वाला गुप्तचर शत्रु राजा से जाकर कहे कि तुम्हारे ऊपर विजिगीषु आक्रमण करने वाला है । ऐसी बातें बताकर जब वह शत्रु राजा को अपने प्रति निश्चित क ले तब उसके प्रमुख बहादुर सैनिकों को मरवा डाले ।

12. शत्रु के साथ सन्धि करके उसे उसी जनपद में रहने दिया जाय, उसके द्वारा दूसरे जनपद को आबाद कराया जाय ओर बाद में उस आबाद हुए जनपद को विजिगीषु छिपकर बरबाद कर दे ।

13. अपने दूष्य या आटविकों द्वारा अपना कुछ उपकार कराकर उन पर आक्रमण करने के बहाने शत्रु की सेना के कुछ भागों को बहुत दूर ले जाया जाय और फिर अल्प सैन्ययुक्त शत्रु के दुर्ग पर हमला कर जबरदस्ती उसको छीन लिया जाय ।

14. शत्रु के दुर्ग का अपहरण करते समय शत्रु के राजद्रोही, शत्रु, आटविक, शत्रु के पास से एक बार जाकर फिर वापिस आने वाले, विजिगीषु द्वारा धन—मान से सम्मानित और आक्रमण के समय स्थान में परिचित आदि बड़े सहायक होते हैं ।

15. विजिगीषु को चाहिए कि जब वह शत्रु की छावनी पर अधिकार कर ले तो ऐसे सैनिकों को अभयदान दे दे, जो युद्धक्षेत्र में जख्मी पड़े हों, जो युद्ध से भाग गये हों, जो अधिक विपदाग्रस्त हों, जिनके वालशस्त्र अस्तव्यस्त हों, जिनके मुख भय से विकृत हो गये हों और जो युद्ध में शामिल न हुए हों शत्रु के दुर्ग को प्राप्त करके और वहां से शत्रु पक्ष के सभी व्यक्तियों की सफाई करने के बाद विजिगीषु को चाहिए कि वह अपना विरोध करने वाले व्यक्तियों का उपांशु वध करके दुर्ग के बाहर और भीतर प्रवेश करे ।

पृथ्वी पर साम्राज्य प्राप्त करने के मार्ग :-

1. शत्रु के राज्य को स्वायत्त करने के बाद विजिगीषु, मध्यम राजा को जीतने की कोशिश करे और उसको स्वायत्त कर लेने के बाद वह उदासीन राजा पर विजय प्राप्त करे । पृथ्वी पर साम्राज्य प्राप्त करने का यह पहला मार्ग है ।
2. पृथ्वी पर अधिपत्य प्राप्त करने का दूसरा मार्ग यह है कि मध्यम और उदासीन राजा राजाओं के न होने पर विजिगीषु अपने गुण–बाहुल्य के द्वारा शत्रु के प्रकृतिवर्ग को अपने अनुकूल बनाये और उसके बाद शत्रु की सेना तथा कोष को अपने अधिकार में करे ।
3. तीसरा मार्ग यह है कि यदि राजमण्डल का अभाव हो तो शत्रु के द्वारा मित्र को और मित्र के द्वारा शत्रु के दोनों ओर से घेर कर या दबाकर उन्हें विजिगीषु अपने वश में करे ।
4. चौथा मार्ग, जीतने योग्य सभीपस्थ सामन्त को ही पहले अपने अनुकूल बनाया जाय । उसको मिलाने के बाद जब अपनी शक्ति दुगुनी हो जाय तब दूसरे सामन्त को अपने अनुकूल बनाने का यत्न किया जाय । उसको भी मिलाकर जब अपनी शक्ति तिगुनी हो जाय तब विजिगीषु तीसरे सामन्त को अपने वश में करने का यत्न करे ।

इस प्रकार सारी पृथ्वी पर साम्राज्य प्राप्त कर उस शक्तिशाली सम्राट को चाहिए कि वह अपने साम्राज्य में वर्णो और आश्रमों की यथोचित व्यवस्था कर धर्मपूर्वक पृथ्वी के राज्य का उपभोग करे ।

अन्त में आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि शत्रु के दुर्ग को जीतने के लिए निम्नांकित पांच उपाय अत्यन्त ही प्रभावपूर्ण होते हैं :-

1. उपजाय (बहकाना)
2. उपसर्प (गुप्तचरों द्वारा शत्रुनाश)
3. वामन (विष प्रयोग)

4. पर्युपासन (घेरा डालना),

5. अवभर्द (विध्वंस)

इस प्रकार दुर्ग युद्ध में विजिगीषु राजा विजय प्राप्त करता है ।

(घ) सेना में उत्साह उत्पन्न करना :-

जब कभी सेना निरूत्साहित दिखाई दे, या किसी कारण सेना में उत्साह कम दिखाई दे, उस समय विजिगीषु राजा को आत्मबल रखकर सेना में उत्साह उत्पन्न करना चाहिए । इस सन्दर्भ में आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि विजिगीषु को चाहिए कि वह अपनी संगठित सेनासे कहे कि "मैं भी आपके ही समान वेतनभोगी नौक हूं । आप लोगों के साथ ही मैं इस राज्य का उपयोग कर सकता हूं । इसलिए जिसको मैं शत्रु बताऊं वह आप लोगों के हाथों अवश्य मारा जाना चाहिए । इस प्रकार सेना को उत्साहित कर, तदन्तार मंत्रियों एवं पुरोहितों द्वारा सेना को यह कहकर उत्साहित करायें कि वेदों में ऐसा लिखा है कि यज्ञ, अनुष्ठान समाप्त हो जाने के बाद और दक्षिणा दिये जाने के बाद यजमान को जो फल मिलता है, वहीं फल युद्ध क्षेत्र में वीरगति पाये हुए सैनिकों को मिलता है । उन्होने आगे यह भी लिखा है कि "अनेक यज्ञों को करके, कठिन तप करके और अनेक सुपात्रों को दान देकर ब्राम्हण लोग जिस उच्च्व गति को प्राप्त करते हैं, शूर-वीर क्षत्रिय धर्मयुद्ध में प्राणोत्सर्ग करके उससे भी उचच गति को प्राप्त करते हैं । मंत्रों से संस्कृत जल से भरा हुआ और दर्भ से आच्छादित नई शरब का छलछलाता शकोरा उस व्यक्ति को प्राप्त नहीं होता और वह नरक में जाता है जो अपने स्वामी के लिए प्राणों की बाजी नहीं लगाता ।[1]इस प्रकार मंत्री और पुरोहितों के द्वारा सैनिकों को प्रोत्साहित किया जाता है । शत्रु पक्ष के पदाधिकारियों एवं राजा को मारने के लिए आर्थिक प्रलोभन भी सैनिकों को दिया जाता था, तथा उनकी प्रशंसा करके उत्साह भरा जाता था । इसका उल्लेख अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने इस प्रकार किया है, युद्ध के लिए तैयार, धन-सत्कार किया

---

1. अर्थशास्त्र, 10/150-152/3/12,13,14

सम्बन्धित सेना को ललकार कर सेनापतियों, कहो, आप लोगों में से जो भी सैनिक शत्रु राजा को मार डालेगा उसे एक लाख स्वर्ण मुद्राएं पुरस्कार में दी जायेंगी, जो सैनिक शत्रु के सेनापति या राजकुमार को मार डालेगा उसे पचास हजार स्वर्ण मुद्राएं इनाम में दी जायेंगी । इसी प्रकार शत्रु के वीर सैनिकों में से मुख्य सैनिकों को मारने वाले को दस हजार, हाथी तथा रथों को नष्ट करने वाले को पांच हजार, घुड़सवारों को नष्ट करने वाले को एक हजार, पैदल सेना के मुख्य सैनिकों को नष्ट करने वाले को एक सौ और साधारण सिवाही का सिर काटकर लाने वाले को बीस स्वर्णमुद्राएं इनाम में दी जायेंगी । इसके अतिरिक्त युद्ध मे भाग लेने वाले प्रत्येक सैनिक का वेतन, भत्ता दुगुना कर दया जायेगा और शत्रु के यहां से लूट–पाट में मिला हुआ सारा माल भी उन्हें ही दिया जायेगा ।[1]इस प्रकार से सेना में उत्साह भरा जाता था ।

(ड.) संकेत प्रणाली एवं युद्ध संगीत :–

युद्ध क्रिया में संकेत प्रणाली एवं युद्ध संगीत का प्रयोग भी किया जाता था । क्योंकि आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि सर्वोच्च सत्ताधारी नायक को चाहिए कि वह युद्ध क्षेत्र में विशेष प्रकार के वाद्य शब्दों द्वारा अथवा पताका ध्वजाओं द्वारा व्यूह में खड़ी सेना के लिए सांकेतिक इशारों की व्यवस्था करे । क्योंकि इसके प्रयोग से युद्ध में खड़ी सेना को बिखराने के लिए, बिखरी हुई सेना को एकत्र करने के लिए, चलती हुई सेना को रोकने के लिए, रूकी हुई सेना को चलने के लिए तथा आक्रमण करती हुई सेना का लौट आने के लिए, बहुत ही सहायता मिलती है ।[2]शुक्रनीति में भी व्यूहों के निर्माण एवं भंग हेतु तथा सेना सम्बन्धी अनेक कार्य हतु तमाम संकेतों का प्रयोग किया गया है । शुक्र ने लिखा है कि सेनाधिपति शतानीक को ऊंचे मंत्र पर बैठकर सेना के कार्य का अवलोकन करना चाहिए ओर बाजे के संकेतों से व्यूह रचना करनी चाहिए ।[3]

---

1. अर्थशास्त्र, 10/150–152/3/20
2. वही, 10/158–159/6/12
3. शुक्रनीति, 4/1102–1104 तथा 1110–1111 तथा 1183

(च) धर्मयुद्ध के कतिपय नियम :-

महाभारत के अनुसार रथी को रथी से, गजारोही को गजारोही से, अश्वारोही को अश्वारोही से, पैदल को पैदल से युद्ध करना चहिए । जब कभी प्रहार किया जाय तो यथायोग्य अपने तुल्य शक्ति वाले पर ओर उसे चेतन कर प्रहार करना चाहिए । विश्वास में बैठे हुए पर धोखे से शस्त्र का प्रहार नहीं करना चाहिए । दूसरे स्थान पर यह भी निर्देश दिया गया है कि हताहत शत्रु यदि अपने राज्य में हो तो उसकी चिकित्सा करानी चाहिए । शुक्रनीति में इसका समर्थन करते हुए कहा गया है कि ऐसे पुरूषों का वध नहीं करना चाहिए जो भय से छिपकर बैठा हो, नपुंसक हो, हाथ जोड़े हुए हो, जिसने सिर के बाल खोल दिये हों, मैं तेरा हूं, ऐसा कहो, सोया हुआ, कवच विहीन, निराश, युद्ध में सम्मिलित न हो, जो केवल युद्ध को देख रहा हो, जो खा-पी रहा हो, जो भयभीत हो और जो भाग रहा हो, इसके अतिरिक्त वृद्ध तथा स्त्री की भी हत्या नहीं करनी चाहिए । [1]

धर्मसूत्रों एव स्मृतियों में जो युद्ध सम्बन्धी नियम प्रतिपादित हैं, वे अति मृदु हैं । आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार जो शत्रु शस्त्रविहीन हो गये हों, या सिर के बार खोले हुए हो या हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हों, या जो भाग रहे हो, उन्हें नहीं मारना चाहिए । बौधायनसूत्र में लिखा है कि राजा को शत्रु के विरूद्ध विष से बुझे हुए बाणों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, और युद्ध के समय स्त्रियों, बच्चों एव वृद्धों पर प्रहार नहीं करना चाहिए । गौतमधर्मसूत्र मे वर्णन है कि युद्ध में शत्रु का वध करना पाप नहीं है, परन्तु युद्ध मे ऐसे पुरूषों पर वार करना उचित नहीं है कि जिनके घोड़े हताहत हों, जो शस्त्रविहीन हो गयग हों, जो पीठ दिखाकर बैठ जाये, जो भाग कर पर्वतों या वृक्षों पर चढ़ जायें और जो कहें कि हम ब्राम्हण या गाय हैं ।

---

1. शुक्रनीति, 4/1138-39

युद्ध में मारना या मर जाना अर्धर्म नहीं समझा जाता था । महाभारत में वर्णन है कि जब कुरूक्षेत्र के युद्धस्थल पर अर्जुन ने शत्रु सेना में निकट व प्रिय सम्बन्धियों और आचार्यो को देखा तो उसने युद्ध करने का विचार छोड़ दिया । इस अवसर पर श्रीकृष्ण ने उन्हें क्षत्रिय धर्म का उपदेश दिया और धर्म के अनुसार वे लड़ने के लिए तैयार हुए । महाभारत में धर्मयुद्ध का पालन किया गया है । तुलसीकृत रामचरित मानस में दिखाया गया है कि श्रीराम सततधर्म युद्ध ही करते हैं, यद्यपि रावण ने कूटयुद्ध का सहारा लिया है । मानस में धर्मयुद्ध का ही पालन हुआ है । रण में विमुख योद्धाओं को मारना धर्म विरूद्ध समझा जाता था । सभी अपने बराबर वालों से युद्ध करते थे । रणक्षेत्र में राम और रावण तथा दोनों ओर के वीर जयजयकार करते हुए अपनी–अपनी जोड़ी ढूढकर लड़ते थे । जबतक युद्ध चलता रहता था, शत्रु रहता था लेकिन युद्ध जैसे ही समाप्त होता था शत्रु–शत्रु नहीं रह जाता था ।

उस समय युद्ध विषयक कतिपय अन्य नियमों का भी पालन किया जाता था और संध्या होते ही युद्ध समाप्त कर दिया जाता था । वर्षाकाल में सम्भवतया आवागमन की असुविधा के कारण युद्ध आदि कार्य बन्द कर दिए जाते थे । शुक्रनीति में कहा गया है कि युद्ध के लिए शरद, हेमन्त ओर शिशिर का समय उत्तम, बसन्त का मध्यम, ग्रीष्म का अधम तथा वर्षाकाल वर्जित माना जाता था ।[1] परन्तु राक्षस कूटयुद्ध के लिए प्रसिद्ध थे । वाल्मीकि रामायण में उन्हें स्थल–स्थल पर कूट–योधिनः कहा गया है । अग्नि, विष, जादू, टोने के प्रयोग द्वारा वे अपने मायाबल का परिचय देते थे । मारीच महामाया विशारद था । रावण युद्ध में मामा का आश्रय लेता था और वह छल–कपट के लिए प्रसिद्ध था ।

---

1. शुक्रनीति, 4/1056/57

इस प्रकार प्राचीन भारत में धर्मयुद्ध लड़ा जाता था, अर्थात युद्ध के कुछ नैतिक अथवा धर्म के अनुसार मान्य नियम थे । इसी कारण युद्ध के परिणाम अत्यन्त विनाशकारी नहीं होते थे । युद्ध में भाग न लेने वाले तत्वों के कार्यो के हस्तक्षेप नहीं किया जाता था अथवा निर्दोष व्यक्तियों का वध नहीं किया जाता था । इसके अतिरिक्त हस्तकलाएं व दस्कारियां चलती रहती थी । धर्म युद्ध के सिद्धान्तों के अनुसार कृषि भूमि व बगीचों आदि को हानि नहीं पहुंचाई जाती थी । प्राचीन भारत में युद्ध के सभी तरीके उचित नहीं माने जाते थे । यदि पराजित राजा जीवित रहता था तो उसे ही या उसी के किसी कानूनी उत्तराधिकारी को राजगद्दी पर बैठा दिया जाता था । यदि वह विजेता से सन्धि या अनुबन्ध कर लेता था स्त्रियों का माताओं और बहनों की भांति सम्मान किया जाता था । यूनानी लेखकों ने इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि जब अन्य राष्ट्रों में युद्ध कला में साधारणतया भूमि को नष्ट कर उसर बना दिया जाता था इसके विपरीत भारतीयों में, जहां कृषिकों को एक ऐसा वर्ग समझा जाता था कि उसके कार्य में अतिक्रमण न किया जाये जबकि पास में ही युद्ध भी चलता है । कृषक बिना खतरे के अपना कार्य करते रहते थे । इसके अतिरिक्त युद्ध करने वाले शत्रु के देश को आग लगाकर अथवा पेड़ काटकर बरबाद नहीं करते थे ।

प्राचीन भारत में शूरवीरों का बड़ा मान था और शौर्य का बड़ा महत्व था । मनु का कथन है कि शत्रु चाहे सम हो, बलवान हो या हीन हो, क्षत्रिय को युद्धस्थल से कभी भी विमुख नहीं होना चाहिए क्योंकि पीठ दिखाकर भागना क्षत्रिय धर्म के विरूद्ध है । वास्तव में क्षत्रिय का धर्म युद्धस्थल पर मर मिटना होता था । युद्ध में अपने धर्म को पालन करने वाला क्षत्रिय सीधा स्वर्ग जाता हे, ऐसा विश्वास था । इस विषय में शुक्र ने कहा है कि जो राजा युद्ध को छोड़कर भागता है, उसको देवता सदैव नष्ट करते हैं । प्रजा का पालन करते हुए, यदि राजा को किसी समय उत्तम अथवा अधम शत्रु से युद्ध करना पड़े तो उसे क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए संग्राम से नहीं हटना चाहिए । जो राजा (क्षत्रिय) होकर युद्ध नहीं करता, उसे भूमि इस प्रकार ग्रस लेती है, जैसे सांप बिल में सोने वाले चूहों को । क्षत्रिय के लिए यह महान

अधर्म है कि वह शय्या पर पड़े–पड़े मरे । जो क्षत्रिय शरीर में बिना घाव हुए मर जाता है, पुरातन ऋषि उसके कर्म की प्रशंसा नहीं करते । युद्ध में संग्राम करते हुए मरने वाले राजा स्वर्ग में जाते हैं और संग्राम में मरा हुआ वीर अच्छे लोक मे जाता है । [1]

प्रथम मगध साम्राज्यकाल में कूट–युद्धों की ओर विशेष ध्यान दिये जाने के कारण धर्मयुद्ध के नियमों की तरफ उदासीता सी दिखाई देने लगी थी । आचार्य कौटिल्य इस काल में कूटनीति को अधिक महत्व दिया है । ऐसा नहीं है कि धर्मयुद्ध लुप्त हो गया था, आचार्य कौटिल्य ने ही एक तरफ जहां कूटनीति पर बल दिया वहीं दूसरी तरफ धर्मयुद्ध पर भी प्रकाश डाला है । उसके अनुसार रणभूमि में गिरे हुए, रण से विमुख, शरणागत, बिखरे बालों वाले, शस्त्रविहीन और युद्ध न करने वाले शत्रुओं को अभय दान देना चाहिए ।[2]उन्होने एक जगह यह भी कहा है कि जब युद्ध प्रारम्भ हो जाय तब शत्रु के राज्य में अग्नि न लगाया जाय । [3]

इस तरह युद्धकला के क्षेत्र में यह काल अन्य कालों से बड़ा ही विकसित एवं उन्नतिशील रहा है । यहां विदेशियों के साथ हुए संघर्ष से भारतीय युद्धकला में ओर निखार दिखाई देता है क्योंकि हर एक युद्ध के बाद वे अपनी कमी को सुधारते गये । अशोक के आगमन एवं बौद्ध धर्म के प्रचार के बाद से यह काल लगभग सैन्य शक्ति की तरफ से उदासीन होता गया । लेकिन चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में सैन्य शक्ति एवं युद्धकला अति विकसित थी ।

---

1. शुक्रनीति, 4/1134–45
2. अर्थशास्त्र, 13/4/68
3. वही, 13/4/25

अध्याय (7)

उ प सं हा र

"उपसंहार" (प्राचीन भारतीय संग्रामिकता का विश्लेषणात्मक परिचय)

भारतीय इतिहास सैनिकों की शानदार गाथाओं से अभिरंजित है क्योंकि किसी भी समाज या राष्ट्र की पहली आवश्यकता सुरक्षा होती है । राष्ट्रीय सम्प्रभुता की रक्षा, शान्ति की स्थापना, सीमा रक्षा तथा अपनी महत्वकांक्षाओं की पूर्ति के लिए सेना की आवश्यकता भी महसूस की जाती है ओर सेना भी अपने कर्तव्य का पालन करने में तभी सक्षम हो सकती है जब वह सुव्यवस्थित और सुसंगठित हो । प्राचीन काल में भी राजाओं के पास सेनायें हुआ करती थी । यह बात और है कि प्राचीन काल के विभिन्न समयों में सेना का अलग अलग रूप अलग-अलग पद्धति रही है । सेना का सम्बन्ध जितना शान्ति से हैं उतना ही युद्ध से भी है । हर काल में यह लड़े गये हैं युद्ध के लिए सेनायें अपनी विशिष्ट पद्धतियों को अपनाती रही है । यही कारण है कि जो पद्धतियां प्राचीन काल में अपनायी गयी हैं वह आधुनिक काल में देखने को नहीं मिलती ।

जगत में प्रारम्भिक विकास के साथ ही संग्राम की भावना मानवता के साथ जुड़ी हुई है । विकास का ऐसा कोई भी युग नहीं मिलता, जहां चेतन प्राणियें के बीच संघर्ष न छिड़ा हो । पशु पक्षी कीट पतंग में भी लड़ने-भिड़ने और एक दूसरे से बढकर रहने की प्रवृत्ति पायी जाती है । युद्ध आंधी, भूकम्प, ज्वालामुखी तथा तरंग प्रवाह की भांति प्रकृति दृश्य है । अतीत, वर्तमान तथा भविष्य सभी कालों में यह तरंग लहराती नजर आती है । युद्ध क्रूरता का ही प्रतीक न बन जाय, इसे रोकने की प्रशंसनीय चेष्टा में चेतन मनुष्यों ने की थी । एक राष्ट्र जब दूसरे से लड़ रहा है तब युद्ध सम्बन्धी कतिपय नियमों का परिपालन अवश्य हो जाता है । व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भी यदि संग्राम छिड़ा हो, वहां भी कुछ नियमों का पालन विश्वहित की दृष्टि से अपेक्ष्य है ।

एतिहासिक परिप्रेक्ष्य में यदि देखा जाय तो युद्ध की भावना प्राणिमात्र में जन्म जात मिलती है । क्षत्रिय–क्षत्रिय को मारता है । मछली–मछली पर जीती है । कुत्ते का वध कुत्ता करता है एवं बड़ा पौधा छोटे को दबा देता है ।[1]किसी प्राणि में बल न हो तो वह कुछ कर नही सकता । जाति देश या राष्ट्र का अस्तित्व भी बल पर ही स्थित है । बलवान व्यक्तियों के अभाव में राष्ट्र क्षण–मात्र भी ठहर नहीं रुकता । दुर्बलों के लिए यह संसार नहीं है । मनुष्य की अर्न्तवृत्तियों में स्वरक्षा तथा स्वविकास के भाव सर्वोपरि है । सैनिक–संगठन इसी अर्न्तवृत्ति का ज्वलन्त निदर्शन है । सामूहिक बल का परिचय देने के लिए ही सेना संगठन की आवश्यकता अनुभव होती है । संगठन के लिए उत्साह चाहिए । राष्ट्र की नैतिक तथा शारीरिक शक्तियों के प्रदर्शन का उत्साह ही इतिहास का निर्माण करता है ।

युद्ध मानवीय प्रतिहिंसात्मक वृत्ति की व्यंजना है । जब तक मनुष्य भूतल पर रहेगा, उसकी अर्न्तवृत्तियां काम करती रहेंगी । ज्वालामुखी, झंझावत, पविपात, विद्युतविलसन, जलप्लावन, आदि प्रकृति शक्तियों के विकार हैं । सर्जन के अन्तराल में विनाश है और जन्म की तह में मृत्यु । पर्वत के स्थान को समुद्र और समुद्र के स्थान को पर्वत ग्रहण करता है । संग्राम के अन्तराल में निर्माण और निर्माण के अन्तराल में घ्वंस है । संग्राम का अन्त तभी सम्भव है जब मानव की सान्त्वि की वृत्ति राजसी तथा तामसी वृत्तियों पर अपना ऊषण सिक्का जमा लें ।

हमारी सभी स्मृतियों मे युद्ध धर्म समझा गया है । मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णुस्मृति, महाभारत कोटिल्य आदि अनेक पुराण राजधर्म के रूप में युद्ध का वर्णन किए है ।

नैष:, शूरै:, स्मृतो र्ध्मः क्षत्रियस्य पलायनम् ।

श्रेयो हिमरणं युद्धे न भीतस्य पलायनम ।।

---

1. महाभारत, उद्याग पर्व, 56

देश कालेन संयुक्तं युद्ध विजयदं भवेत ।

हीनकालं तदेवेह अनार्था योपकल्पते ।। 1

शुक्राचार्य की विचारधा युद्ध को धर्म मानने में है । ये कूटनीति के परम प्रशंसक थे ।[2] इन्होने लिखा है कि राम, कृष्ण, इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने कूट–युद्ध किया है ।[3] बुद्धिमान मनुष्य वही है जो अपना काम साधने के लिए अपमान की परवाह नहीं करता । कौटिल्य ने कूट युद्ध की भरपूर प्रशंसा की है । वह भी कूट युद्ध के पक्षपाती थे । निर्बल शासक को सबल शत्रु के प्रति सदा कूटनीति का ही प्रयेग करना चाहिए । सोये शत्रु का भी वध करना उनकी दृष्टि में न्याय संगत था । युद्ध क्षेत्र में पीठ दिखाना भारतीय नीतिशास्त्र में अपमान जनक समझा जाता है । मनुस्मृति में यह उल्लेखित है कि युद्ध में पीठ नहीं दिखाना, पुत्रवत प्रजा का पालन करना तथा ज्ञानियों की तन मन वचन से श्रद्धापूर्वक सेवा करना शासकों का परमधर्म तथा कर्तव्य है ।[4] सारी शक्ति लगाकर लड़ता हुआ युद्ध अपरामुढा शासक स्वर्गगामी होता है । जो मातृभूमि के लिए प्राणों का विर्सजन करते हैं और विशाक्त शस्त्रों का प्रयोग नहीं करदे, वे योगी की भांति स्वर्ग उपलब्ध करते हैं । शुक्र के अनुसार दो ही व्यक्ति सूर्य लोक से परे स्वर्ग लोक को प्रापत करते हैं एक योगी दूसरा सैनिक ।[5] उन्होने आगे यह भी लिखा है कि युद्धक्षेत्र में मित्रों को धोखा देकर नौ–दो ग्यारह होने वाले सैनिक नरक प्रापत करते हैं ।

प्राचीन भारत में जो युद्ध होते थे, उनमें सर्वसाधारण को कष्ट कम पहुंचाया जाता था । महाभारत पाण्डु–पुत्रों के हक की प्राप्ति के लिए हुआ था । कुरूक्षेत्र के विस्तृत मैदान में जो जनवर्ग के

---

1. महाभारत, विराटपर्व, 49
2. शुक्रनीति, 4–317
3. वही
4. मनुस्मृति 7/88–89
5. शुक्रनीति 4–139

आवास से बहुत दूर था भारत की बड़ी–बड़ी लड़ाइयां हुईं । सार्वजनिक क्षति नहीं पहुंचाना ही सम्भवतः उद्देश्य रहा होगा । कौरव पाण्डवों की सेनाओं में 40 लाख सैनिक थे । पर किसी भी नगर को ध्वस्त करने की बात नहीं सुनी जाती । जरासंघ ने मथुरा पर 17 बार आक्रमण किया पर दूसरे राज्य की प्रजाओं को कष्ट पहुंचाये, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता ।

शत्रु को असमर्थ बना देना, युद्ध का उद्देश्य मनु महाराज स्वीककृत करते हैं । शत्रु को चारों ओर से घेरकर उसे तरह तरह से पीड़ित करे । उस जग का तृण, धान्य जलाशय एवं लकड़ी को नष्ट कर दे जिससे शत्रु भूखों मरने लगे । शत्रु के जलाशयों को नष्ट कर दें, दूर्ग की दिवारों को गिरा दे और किले की खाई पार दे । इस प्रकार शत्रु को क्षीण बल कर दे ।[1] प्राचीन भारत में जलाशय विषाक्त नहीं किए जाते ताड़का तथा बलि के वध रामायण में अशोभन घटनाएं हैं । महाभारत में धर्मयुद्ध के नियमों का अधिक अतिक्रमण हुआ है पर यह अतिक्रमण दोनों पक्षों से हुआ है । त्रुटियां होने के बाद भी प्राचीन भारत में युद्ध सम्बन्धी नियम अधिकतर लोकदर्शी थे । पश्चिमी देशों में युद्ध का पालन केवल सिद्धान्तों में होता आया है अभ्यास का लोक व्यवहार में बहुत कम ।जो राष्ट्र युद्ध में सम्मिलित नहीं होते थे वे तटस्थ राष्ट्र कहलाते थे । इन उदासीन राष्ट्रों को युद्ध में सम्मिलित राष्ट्रों के प्रति युद्ध सम्बन्धी किसी भी नियम का पालन नहीं करना पड़ता । परन्तु आधुनिक परिवेश में एक राष्ट्र दूसरे से अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकताओं से आबद्ध है । अतः युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व तटस्थ राष्ट्र को युद्धेक्षु राज्यों को सूचित कर देना आवश्यक हो जाता है । इन दिनों पश्चिमी देशों में मशीनों के द्वारा सस्ता माल तैयार किया जाता है यह अनुन्नत देश के व्यापार को चौपट कर देता है एवं व्यापार मण्डल में भी नाश और निर्माण की भावना काम कर रही है । व्यापारिक होड़ में अनेक जातियां नष्ट हो गयी । पूर्व विकसित मशीन अणुबम ओर हाइड्रोजन बम से भी अधिक

---

1. मनुस्मृति 7/95–96
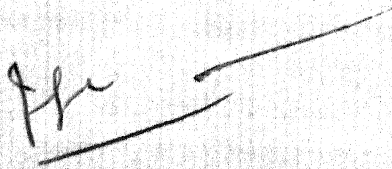
विध्वंसकारी है । आज अमेरिका विश्व के सभी राष्ट्रों पर अपना दबदबा व्यापारिक उन्नति के द्वारा बना रहा है । युद्ध का उद्देश्य भी प्रायः एक को हराकर अपने को प्रबलतर प्रमाणित करना है । व्यापार में एक का नफा दूसरे का घाटा है । संग्राम में एक की विजय दूसरे की हार है ।

सैनिक इतिहासकार यह मानते हैं कि सैनिक इतिहास युद्ध और योद्धाओं का इतिहास है । युद्ध राजनीतिक साधन है उसमें सैनिक बल सेएक राज्य अपनी इच्छा का पालन भार दूसरे राज्य पर लाद देता है यह कोई आवश्यक नहीं है कि सैनिक बल से ही एक देश अपनी इच्छा की पूर्ति करे । उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाय कि सन 1805 ई0 में जब इंगलैण्ड की नाविक शक्ति ने फ्रांसीसी जहाजी सेना का नष्ट कर दिया उस समय नेपोलियन के हाथ में इंग्लैण्ड को नीचा दिखाने का कोई शस्त्र न रहा । अतः उसने यह आज्ञा दी कि फ्रांस अधिकृत देशों में ब्रिटेन की कोई वस्तु न खरीदी जाय क्योंकि आर्थिक युद्ध के द्वारा वह इंग्लैण्ड को वश में करना चाहता था । सन 1921 ई0 में गांधी जी ने भी असहयोग आन्दोलन के द्वारा इंग्लैण्ड को आर्थिक क्षति पहुंचायी थी । चर्खा-संग्राम ने मैनचेष्टर तथा लिवरपुल की मिलों को नष्ट कर दिया था । ऐसा संग्राम में आयुद्धों का प्रयोग नहीं होता, तो भी विरोधी पक्ष को क्षति पहुंचायी जाती है । संग्राम का चक्र प्रतिक्षण चलता रहता है । संगठित सरकार चाहती है कि विशुद्ध तेल घी आटे बिके । पर व्यापारी कभी नहीं बेचते । कुछ वर्ष कांग्रेसी सरकार चाहती थी कि निश्चित दर पर कपड़े बेचे जाय, पर बाजार चोरबाजारी जारी रही । सरकार तथा चोरबाजारी में संग्राम सदा जारी रहा ।

सरकार देश की रक्षा तथा समाज के कार्यो को सम्यक रूप से चलाने के लिए कानून बनाती है पर इन कानूनों को तोड़ने वाले सहस्त्रें की संख्या में है । कानून के रक्षकों तथा कानून को भंग करने वालों में सदा संग्राम चालू है । इन्हीं तुमुल संघोर्षो के परिणाम फौजदारी तथा दिवानी अदालते हैं जहां करोड़ों की तायदाद में जनसमूह पीसे जा रहे हैं । यह भी निरन्तर चलने वाले संग्राम का ही एक फल है ।

यह माना जाता है कि तीन शराबियों तथा पुलिस के बीच के संघर्ष झगड़े हैं । तीन सौ मनुष्यों तथा कुछ पुलिस सिपाहियों के बीच संघर्ष बलवा है । तीस हजार मनुष्यों तथा सशस्त्र पुलिस के बीच संघर्ष ग्रहयुद्ध है । ऐसे संघर्षों को क्या हम सैनिक इतिहास की परिधि से पृथक कर सकते हैं ।

अतः सैनिक इतिहास को युद्धों और योद्धाओं का इतिहास कहना अनुचित जान पड़ता है । सैनिक इतिहास का क्षितिज बहुत बड़ा है । युद्ध अनेक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए हुआ करता है । स्त्रियों धर्मो नैतिक तथा राजनीतिक कारणों के लिए ही युद्ध नहीं होता वरन प्राकृति की शक्ति ही युद्ध का कारण है अतः सैनिक इतिहास की रूपरेखा खड़ा करना अति कठिन जान पड़ता है । सैनिक इतिहास जाति या राष्ट्र के संघर्ष का इतिहास है, जिसकी अभिव्यक्ति संगठित सेना के सहारे होती है । युद्ध की प्रचण्डता लोभहर्षक है । इसका लक्ष्य ही किसी जाति या राष्ट्र को उस काम को करने के लिए बाध्य करना है जिसे वे करना नहीं चाहते । पराजित जाति का जीवन आधारभूत हो जाता है । युद्ध किसी भी राष्ट्र की नैतिक तथा पाशविक शक्तियों को खरी कसौटी है । किसी जाति की मानसिक शक्ति का पता उसके साहित्य कला विज्ञान तथा दर्शन के अध्ययन से पा सकते हैं । राजनीतिक संस्थायें ,उस जाति की मेघा तथा नीति की परिचायिका हैं । नागरिकों के स्वास्थ्य तथा आकृत्यादि से उस जाति की शारीरिक क्षमता का पता लगता है और .एक संग्राम ही है जिसमें किसी भी जाति की मानसिक नैतिक तथा शरीरिक शक्तियों की विशेषताओं की परक्षा होती है । संग्राम काल में ही राष्ट्र के नेताओं की कार्यक्षमता अनुयायियों की शक्ति नागरिकों की प्रसन्नता से क्लेश झेलने की सहिष्णुता असफलता पर असफलता पाने पर भी अपने ध्येय से विचलित नहीं होने का दृढ संकल्प प्रकट होते हैं । सैनिक इतिहास इन्हीं मानवी शक्तियों की परीक्षा का इतिहास है ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ ::–

अर्थशास्त्र–कौटिल्यकृत, अनु0 रामतेज शास्त्री, काशी, 1964

" " अनु0 श्री वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद, 1962

अथर्ववेद (हिन्दी भाषानुवादसहित) पं0 श्री राम शर्मा आचार्य, बरेली, 1967

" " जयदेव विद्यालंकार ।

अग्निपुराण (सम्पादक हरिनारायण), 1822

अग्निपुराण (हिन्दी भाषानुवादसहित) पं0 श्री रामशर्मा आचार्य, बरेली, 1967

ऋगवेद – श्री दा0 सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, सतारा, 1940

" (हिन्दी भाषानुवादसहित) जयदेव विद्यालंकार ।

" " पं0 श्री राम शर्मा आचार्य, बरेली, 1967

ऋगवेद (हिन्दी) : रामगोविन्द त्रिवेदी ।

ऐतरेयब्राम्हण (हिन्दी भाषानुवादसहित) : गंगाप्रसाद उपाध्याय ।

ऐतरेयब्राम्हण (सायणाचार्यभाष्यसहित) आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना 1930–31

कुमारसम्भवस् (कालीदास गन्थावली) : कहाकवि कालीदास ।

कामन्दकनीति (हिन्दी भाषानुवाद सहित) : वंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

गौतमधर्मसूत्र : आनन्दाश्रम, मुद्रणालय, पूना

छान्दग्योपनिषद् : नित्यानन्द, मिताक्षरी टीका सहित

तैत्तिरीयब्राम्हण (हिन्दी भाषानुवाद सहित) : सा0 भष्य सहित, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1930–31

तैत्तिरीय संहिता : श्री डा0 सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, सतारा, सं0 2004

दिग्घनिकाय : अनु0 राहुलसांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी

पाणिनीकृत अष्टाध्यायी, बनारस, 1816

बौघायनघर्मसूत्र– टीकाकार गोविन्द स्वामी, चौखम्भा, वाराणसी, सं0 1991

भागवतपुराण (हिन्दी भाषानुवाद सहित), गीता प्रेस, गोरखपुर

महाभारत (36 खण्ड): महर्षिवेदव्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1955–58

मनुस्मृति (हिन्दी भाषानुवादसहित) : हरगोविन्द शास्त्री

मत्स्यपुराण : अनु0 ए0 तालुकेदार आफ अवघ, भुनेश्वरी आश्रम बहादुरग्रंज, प्रयाग, 1916–17

मेघदूतम/ अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी सं0 2001

यजुर्वेद्र : श्री दा0 सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, सतारा, 1943

" (हिन्दी भाषानुवाद सहित) : जयदेव विद्यालंकार

" " पं0 श्री रामशर्मा आचार्य, बरेली, 1967

रघुंवंशम : अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी, सं0 2001

वायुपुराण : सं0 राजेन्द्रलाल मिश्र, कलकत्ता, 1880

वाल्मीकि रामायण (2खण्ड) : रामायणदत्त शास्त्री, गीता प्रेस, गोरखपुर

वाल्मीकि रामायण : चन्द्रशेखर, सस्तासाहित्य पुस्तकमाला, कार्यालय, दिल्ली

विष्णुपुराण : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2009

स्कन्दपुराण : सं0 क्षेमराज री कृष्णदास, बम्बई, 2909

शतपथब्राम्हण : वैदिक यंत्रालय, अजमेर, 1902

शुक्रनीति (हिन्दी भाषानुवाद सहित) : गंगाप्रसाद शास्त्री

श्री मद्भवद्गीता : श्री दा0 सातवलेकर पारडी, 1961

हषचरितम् : वाणभट्ट, चौखम्भा सस्कृत सिरीज आफिस, वाणारसी ।

सहायक ग्रन्थ (हिन्दी)

अलतेकर, अनन्तसदाशिव : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, इलाहाबाद, सं0 2033

अग्रवाल, वासुदेवशरण : प्राचीनकालीन भारतवर्ष

कुलरेष्ठ, मेजर आर0सी0 एवं शर्मा : भारतीय सैन्य विज्ञान, अलीगढ़, 1958

काणे, पी0बी0 : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2

जायसवाल, का0प्र0 : हिन्दू राजतंत्र (अनु0 रामचन्द्र वर्मा)

दिखितार : प्राचीन युद्ध कला

पाण्डेय, विमलचन्द्र, प्राचीन भारत की राजनीतिक तथा संस्कृतिक इतिहास

पाण्डेय, श्यामलाल : कौटिल्य की राज व्यवस्था ।

पाण्डेय, श्यामलाल : शुक्र की राजनीति ।

पाण्डेय, राजबली : प्राचीन भारत, वाराणसी, 1968 ई0

पाण्डेय, बाबूराम एवं नरायनदत्त चौबे : सैन्य अध्ययन, बरेली, 1981

पाण्डेय, रामदीन : प्राचीन भारत की संग्रामिकता

प्रकाश, ओम : प्राचीन भारत का इतिहास

बाजपेयी, अम्बिकाप्रसाद : हिन्दू राजशास्त्र

बाशम, ए0एल0 : अद्भुत भारत, आगरा, 1972

विद्यालंकार, सत्यकेतु : भारत का प्राचीन इतिहास, दिल्ली, 1967

मजूमदार प्रबोध कुमार : भारतीय सैनिकों का इतिहास

मशीवाली, बी0एन0 : सैन्य विज्ञान, हापुड, 1976

मालीवाल, बी0ए0 : राष्ट्रीय सुरक्षा, हापुड़ 1978

मुकर्जी, राधाकुमुद : हिन्दू सभ्यता इलाहाबाद, 1960

मुकर्जी, राधाकुमुद : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल (रूपान्तरकार मुनीश सक्सेना), इलाहाबाद, 1962

मीतल, सुरेन्द्रनाथ : समाज और राज्य भारतीय विचार

राधेशरण : प्राचीन भारतीय इतिहास का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक रचना ।

राघव, रांगेय, प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास

लाल, मेजर श्यामबलराम औतार : सैन्य विज्ञान, भाग–1

सिंह, लल्लनजी : रामायणकालीन युद्धकला, बरेली, 1982

सिंह, लल्लनजी : युद्ध का अध्ययन बरेली, 1980

सिंह, दीपनरायन : राष्ट्रीय सुरक्षा, भारतीय प्रकाशन, 1978

शुक्ल, देवीदत्त : प्राचीन भारत में जनतंत्र

शास्त्री, देवदत्त : भारतीय सैन्य पद्धति

शर्मा, हरवीर : राष्ट्रीय प्रतिरक्षा, मेरठ, 1979–80 ।

शर्मा, योगेन्द्र कुमार : प्राचीन भारतीय राजनय एवं युद्ध तकनीक

सरकार सरजदुनाथ : भारत का सैन्य इतिहास

त्रिपाठी रमाशंकर : प्राचीन भारत का इतिहास, वाराणसी, 1951

वृहद्हिन्दी कोष (ज्ञानमण्डल)

संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर (नागरी प्रचारिणी सभा)

हिन्दी शब्द सागर, नागरी प्रचारिणी सभा ।

सहायक ग्रन्थ (अंग्रेजी)

Aiyangar, A.M.K. (ed.) Gautam Dharma Sutra Parisista, 1948.

Aiyangar, K.V.R. Some Aspects of Ancient Indian Polity, IInd edition, Madras, 1935

Altekar, A.S. State and Government in Ancient India, 1955.

Bandhopadhyaya, N.C. Development of Hindu Polity and Political Theories, Pt. I and II, Calcutta, 1927

-------- Kautilya, Calcutta, 1927

Bhandarkar, D.R. Some Aspects of Ancient Hindu Polity, 1929

Clausewitz Carl Von, On War, New Jersey, 1976

Chakravarti, S.C. The Philosophy of the Upanishads, 1935

Chakravarti, P.C. Art of War in ancient India.

Chatterji, H.L. International Law and Inter-state Relations in Ancient India.

Chaudhary, R.K. Studies in Ancient Indian Law and Justice.

Chandra, J.N. And Now Hear Gita on Moon, First Edition.

Das, A.C. Rigvedic Oulture, 1925.

Das, S.T. An Introduction to the Art of War,

Dharma P.C. Ramayan Polity, 1941

Dikshitar, V.R.R. Mauryan Polity, Madras, 1932

---------- Hindu Administrative Institutions, Madras, 1929.

----------War in Ancient India.

Drekmier, C. Kingship Community in Early India, 1962

Dutt, N.K. The Organization of India, 1925

Fuller, J.F.C. Armament and History,

Ghoshal, V.N. A History of Indian Political Ideas, Calcutta, 1959

Griffith, S.B. The art of War, Second edition,

Jaiswal. K.P. Hindu Polity, n.d., Calcutta, 1929

----------Manu and Yajanavalkya, Calcutta. 1930

Kulshreshta, R.C. Introduction of Dhanurved.

Krishna Rao M.V. Studies in Kautilya, 1953

Law, N.N. Studies in Ancient Indian Polity, Vol. I, Longmans
Green & Co. 1914.

-------- Aspects of Ancient Indian Polity, 1960

Morgenthan Hans J. Politics Among Nations, Sed. New York
Alfred A. Khopt Oxford, 1960

Majumdar, R.C. History and Culture of Indian People.

-------- Corporate Life in Ancient India, 1922

Majumdar, B.K. The Military system in Ancient India, 1978

Malinwski, An Anthoropological Analysis of War.

Mitra, R.L. INdo-Aryans, Vol. II, 1881

Mookerji, R.K. Chandragupta Maurya and his time, 1952

---------Local Government in India.

Motwani, K., Manu Dharmashastra.

Mukherji, T.B. Inter-state Relation in Ancient Indian 1967.

Palmer, Norman D. & Perkins, Howard, C. International Relations 2nd ed. Boston Houghton Miffin, 1957.

Panikkar, K.M. A Survey of Indian History, 1954.

---------The Idea of Sovereignity and state in Indian Political Thought, 1963.

Palit, M.D.K., Essential of Military Knowledge,

Pant, G.M. Studies in Indian Weapons and Warfare.

Prasad, B. The state in Ancient India, Allahabad, 1928.

---------Theory of Government in Ancient India, Allahabad, 1927

Portway, Col. Donald, Military Science Today.

Rapson (ed.) Cambridge History of India, Vol. I

Ramaswamy, T.N. Essentials of Indian state craft, 1962.

Rai Chaudhary, N.C. Political History of Ancient India, 1958.

Saletore, B.A. Ancient Indian Political Thought and Institutions 1963.

Samasastry, R. Kautilya Arthasastra, 1951.

Samasastry, R. Evolution of Indian Polity, 1920.

Sarkar, B.K. Sutraniti, 1914.

---------The Political Institutions and Theories of the Hindus, 1922.

Shastri, K.S.R. Studies in Ramayana, 1944.

Sharma R.S. Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India, 1959.

Sen, A.K. Studies in Indian Political Thought, 1926.

Sen Sharma. P. Kurukshetra War, Calcutta, 1975.

Shende, N.J. The Religion and the philosophy of the Atharvaveda, 1952.

Sinha, H.N., Sovereignity in Ancient Indian Polity, 1938.

---------The Development of Indian Polity, 1963.

Smith, V.A. Early History of India.

-------- Oxford History of India.

Verma, V.P. Studies in Hindu Political Thought and its Metaphysical foundations, Delhi. 1959.

Wright Quincy, The study of International Relations, New York Appleton Century, Croft, 1955-

-------- A study of War, Chicago, 1942.

GENERAL WORKS

Macrindle, Invasion of India by Alexander The Great, Westminster, 1896.

-------- Ancient India as Described by Megasthanes, Arrian etc. Calcutta, 1906.

Elliot and Dowson : History of India as told by her own Historians, Vols. I-III

Phys Davids, Dialogues of The Buddha.

R.M. Mehta, Pre.Buddhist India, Bombay, 1939.

Macdonel and Keith, vedic Indiex of Names and Subjects, London 1912

ADELPHIC PAPERS

Albion, Rebert, Introduction of Military History,

Balfour, E., Encyclopaedia of India.

Campbell, E.S.M. Dictionary of Military Science.

Canby, Courtlandt, A History of Weaponary.

Carman, W.Y. : Chamber's Encyclopaedia- A Dictionary of Military Uniform.

Dupuy & Dupuy, The Encyclopaedia of Military-History.

Encyclopaeidia of Social Sciences, Vol. XVP ed. 1962

Chambers Twentieth Century Dictionary, 1966 Ed.

Hoffman Nickerson, Encyclopaedia Britanica, Vol. XXIII. Ed. 1966.